



रंग-लोक

भोजपुरी का
लोकधर्मी नाट्य

डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी



रंग-लोक

भोजपुरी का लोकधर्मी का नाट्य

डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी



सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् भोपाल का प्रकाशन

- प्रकाशक - आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स, भोपाल-462002
फोन - 0755-2661948, 2661640
E-mail : mplokkala@rediffmail.com
mptribalmuseum@gmail.com
web. : www.mptribalmuseum.com
- प्रकाशन वर्ष - वर्ष 2014 प्रथम संस्करण
- स्वत्वाधिकार - आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
- मुद्रण - मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल
- मूल्य - 300/- रुपये (तीन सौ केवल)

- पुस्तक से सम्बन्धित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्य क्षेत्र भोपाल होगा।
- पुस्तक में प्रकाशित समस्त सामग्री लेखक की है, आवश्यक नहीं कि प्रकाशक इससे सहमत हों।

ISBN - 978-93-83899-00-5

समर्पण

उस ममतामयी माँ
तथा पूज्य पिता जी की
पुण्यस्मृति
को
जिनके स्नेह की छाँव में जीवन के डगर पर
चलने का हुनर आया ।

— आद्याप्रसाद द्विवेदी



हिन्दी भाषा क्षेत्र की जनपदीय सांस्कृतिक परम्पराओं में अनेक लोकनाट्य शैलियाँ विकसित हुई, उनमें से कई शैलियाँ आज भी एक जीवन्त लोक नाट्य परम्परा हैं। भगत, माच, नाचा, स्वाँग, गम्मत, सांग, विदेशिया, जट-जटिन, दोमकच, विदापत, नटुआ आदि अनेक लोकनाट्य शैलियाँ उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और छत्तीसगढ़ में प्रभावी लोकनाट्य परम्पराएँ रहीं हैं। इनमें से कुछ शैलियाँ समग्र रंग प्रस्तुति शैली की तरह और कुछ गायन शैलियों के रूप में विकसित हुई हैं।

राम और कृष्ण की कथाओं की लीला प्रस्तुति और मंचन भारत की प्राचीन शैलियाँ हैं। लीला मंच, नाट्य मंचों से पृथक रहे हैं और उनकी परम्परा का विकास जनरंजन की नाट्य शैलियों में न होकर भक्ति की एक पद्धति की तरह हुआ माना जाना चाहिए।

लीला परम्परा के पश्चात् मंचन की शैलियों में हमें पौराणिक रचना केन्द्रित आख्यान के रंगमंच पर विचार करना चाहिए। पौराणिक कथालोक एक विराट विस्तार है- इसमें पहले रामायण और महाभारत की कथाओं और उनके उपाख्यानों को मंचित किया जाता रहा। धीरे-धीरे इसमें बहुत सारी पुराण कथाएँ मंच प्रस्तुति का विषय बनाई गयीं। आख्यान के रंगमंच पर एक और युगान्तर घटित हुआ, जब लोक के आख्यानों ने पौराणिक रंगमंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। लोक के चरित नायकों की कथाओं और प्रेमाख्यानों के मंचन को इस क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता मिली। ऐसे आख्यान गायिकी में पहले से ही जनपदों में मौजूद थे, जिस कारण उनके प्रदर्शन जल्दी ही लोकप्रिय हो गये। भारतीय आख्यान गान से नृत्य और नृत्य से नाट्य तक संस्कृति रचना की एक विशाल यात्रा करते हैं। सदियों-

सदियों आख्यान के रंगमंच के साथ करोड़ों भारतीयों का आध्यात्मिक बोध और संस्कृतिक चेतना विकसित और संस्कारित हुई है।

प्रेम के उदात्त में लीन अमर चरित्रों, लोकनायकों और ऐतिहासिक पात्रों की रचना के बाद लोक के नाटक ने अपने आसपास जीवन में घटित रोजमर्रा की घटनाओं और उससे जुड़े किरदारों को अपना विषय बनाया। कंजूस, अज्ञानी विद्वान, संन्यासी के वेश में दुराचारी, सांसारिक वैरागी, जातीय विद्रूपता, सूदखोर, औरतों पर जुल्म करने वाले कथित मर्द, भगवान का धंधा करने वाले पुरोहित आदि अनगिनत चरित्र जो हमें चारों ओर से घेरे रहते हैं। ऐसे चरित्र सभी कालों और क्षेत्रों में पाये जाते हैं- हम इनपर हँसना चाहते हैं- ऐसी हँसी जिसमें समाज का क्रोध और उसकी घृणा मिली होती है।

पौराणिक आख्यानों से लोक के नाट्य की यह यात्रा हमारे समय की चुनौतियों और विद्रूपताओं, संघर्षों और समाधानों, सत्य और झूठ के परिणामों, पाप और पुण्य की स्थापनाओं के प्रयास सदियों से करती रही है, और इसके प्रभाव तथा परिणाम हम सभी के अनुभव का हिस्सा भी हैं।

डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी ने अकादमी के अनुरोध पर भोजपुरी लोकधर्मी नाट्य परम्परा पर केन्द्रित इस पुस्तक का लेखन किया है। हमें आशा है कि रंगमंच की बहुवर्णी परम्पराओं और शैलियों के अध्ययन में उत्सुक पाठकों के लिए यह सामग्री महत्वपूर्ण होगी।

- सम्पादक

प्राक्थन

विगत शताब्दियों में अंग्रेज प्राच्य विद्या विशारदों और ब्रिटिश सरकार के उच्च अधिकारियों के प्रयत्न से भोजपुरी साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ हुए। इन विद्वानों में डॉ० ग्रियर्सन, विलियम क्रूक, मिस्टर शेरिफ, मिस्टर शेरिंग, फेलेन आदि ने लोकवार्ता, लोकसाहित्य, लोक-संस्कृति, लोकभाषा के क्षेत्र में सम्भवतः प्रशासनिक उद्देश्यों से बड़े ही महत्त्वपूर्ण कार्य किये। इसी क्रम में 'जरनल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल', 'इंडियन एंटिक्यूरी', 'मेनकाइन्ड' आदि पत्रों का प्रकाशन हुआ, जिनमें 'इण्डियन एंटिक्यूरी' और 'मेनकाइन्ड' में भोजपुरी लोकसाहित्य एवं लोक-संस्कृति पर ही लेख प्रकाशित होते थे। इन सभी पत्रों में विभिन्न स्थानीय अफसरों तथा भारतीय अधिकारियों के सहयोग से लोकवार्ता सम्बन्धी सामग्री का अभूतपूर्व संकलन भी हुआ। इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के विषय में नृतत्वशास्त्रीय तथा मानवशास्त्रीय अध्ययन के लिए प्रामाणिक विवरण भी संकलित हुए और लोक-साहित्य एवं संस्कृति के तत्त्वों तथा उपादानों को लेकर अनेक पुस्तकें तथा संग्रह ग्रन्थ भी प्रकाश में आये। इस क्रम में तद्विषयक अध्ययन एवं संकलन का कार्य भारतीय अध्येताओं द्वारा भी किये गये, लेकिन इस प्रकार के अध्ययन की पूर्व पीठिका के निर्माण का श्रेय अंग्रेज अधिकारियों को ही है। इनके कार्यों की देखा-देखी भारतीय विद्वानों का भी ध्यान इस ओर गया, जो पिछली शताब्दी से लेकर स्वतंत्रता के पूर्व तक बड़े ही उत्साह से सम्पन्न होता रहा। 1943 ई० में जब टीकमगढ़ से 'लोकवार्ता' और वाराणसी से 'जनपद' नामक पत्रिकायें प्रकाशित हुईं तो संकलित सामग्री के अध्ययन के क्षेत्र में विशेष तेजी आई। फलतः हिन्दी की विभिन्न बोलियों और आधुनिक आर्यभाषा के क्षेत्रों में इस विषय के संकलन, पत्र-प्रकाशन एवं अध्ययन का कार्य बड़ी ही द्रुत गति से होने लगा। इस प्रकार 1920 से लेकर 1950 तक लालबिहारी डे, डॉ० दिनेश चन्द्रसेन, विनयकुमार सरकार, पं० रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० सहल, रामइकबाल सिंह 'राकेश', झवेरचन्द्र मेघाड़ी, सूर्यकरण पारीक, वासुदेवशरण अग्रवाल, श्याम परमार आदि ने

भारतीय लोक-साहित्य के संकलन-अध्ययन को बड़े ही सराहनीय ढंग से प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार भोजपुरी भाषा और लोक-साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में राहुल सांस्कृत्यायन, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ० उदयनारायण तिवारी, श्री रघुवंश नारायण सिंह, श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह आदि के कार्यों से इस प्रकार के अध्ययन को अभूतपूर्व उत्तेजना एवं उत्कर्ष प्राप्त हुआ। फलतः श्री रामनरेश त्रिपाठी की देखा-देखी भोजपुरी लोकगीत के कुछ संकलन भी प्रकाश में आये। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय में शोधकार्य के निमित्त भोजपुरी भाषा और लोकसाहित्य के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट कार्य हुए।

इतना होते हुए भी भोजपुरी लोकसाहित्य की अन्य विधाओं के समान नाट्य विधा पर कोई महत्त्वपूर्ण कृति प्रस्तुत नहीं हो पाई। यद्यपि भोजपुरी लोकनाट्य परम्परा को आधार बनाकर कुछ कार्य और पुस्तकें प्रस्तुत हुईं, किन्तु इस विधा की समृद्धि को देखते हुए संकलन एवं अनुसंधान के अभाव में ये कार्य वांछित उद्देश्य की पूर्ति में अक्षम रहे। इसका कारण मुख्य रूप से यह था कि भोजपुरी के विभिन्न अंचलों में विभिन्न नाट्य परम्पराओं के प्रत्यक्ष अनुभव और लोक-कलाकारों के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के बिना ही कुछ सुनी-सुनाई और लिखी-लिखाई बातों के आधार पर जो कृतियाँ प्रस्तुत हुईं, उनमें अधकचरे ज्ञान और अपूर्ण विवरण, अनुमान और अप्रमाणिक तथ्यों की मात्रा अधिक दिखाई पड़ी। अतः इस विषय में अनुसंधान कार्य की आवश्यकता का अनुभव बहुत दिनों से किया जा रहा था। प्रस्तुत अध्ययन इस क्षेत्र में वैज्ञानिक और यत्किंचित विस्तृत तथा तथ्यमूलक अनुसंधान का विनम्र प्रयास है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि इस कार्य के लिए प्रामाणिक अनुभव एवं विभिन्न अंचलों का प्रतिनिधित्व करने वाली पूर्ण सामग्री के अभाव में सम्भव नहीं था। अतः आवश्यकता के अनुसार लेखक ने सामग्री के चयन और भोजपुरी के विभिन्न क्षेत्रीय नाट्य परम्पराओं से सम्बन्धित अभिनयों, अभिनीत विषयों और कलाकारों से प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा अनुभव एवं विवरण प्राप्त करने का कष्टसाध्य कार्य उठाया। सर्वप्रथम इस दुरूह कार्य के सिलसिले में विभिन्न अंचलों की यात्रा में बड़े ही कटु अनुभव हुए। लोकनाटक मण्डलियों के संचालक तथा कलाकार अपनी पुस्तैनी चीज को लिखाने के लिए तैयार ही नहीं होते थे। उनकी आशंका होती थी कि मेरी चीज को लिखकर तथा प्रचारित कर कहीं मेरी रोजी-रोटी के साधन को छीन न लिया जाय। अपनी कला को गोपनीय रखने की प्रवृत्ति भी लोकनाट्यों को लिपिबद्ध करने में बाधक सिद्ध हुई। लोकनाट्यों के साथ एक बड़ी कठिनाई यह है कि प्रत्येक बार अभिनय करते समय मूल कथावस्तु के अलावा अवान्तर बातें आती रहती हैं। प्रदर्शन की शैली में भी बहुत बड़ा

अन्तर हो जाता है। इसलिए लोक-कलाकार नाटकों को लिपिबद्ध कराने में असमर्थता व्यक्त करते हैं। उनके नाटकीय प्रदर्शन में परिवर्तन की इस प्रवृत्ति के नाते निश्चित आकार में लिपिबद्ध कर पाना मेंढक के तौल के समान दुरुह कार्य है। पुनः एक दूसरी बात यह है कि यदि किसी प्रदर्शन में कलाकार पाँच हैं तो प्रत्येक को केवल अपनी ही बात मालूम है। प्रत्येक कलाकार दूर-दूर गाँवों के रहने वाले हैं, ऐसी स्थिति में प्रत्येक कलाकार से साक्षात्कार कर पाना सरल काम नहीं है। भोजपुरी के अधिकांश लोकनाट्यों के बहुत से प्रसंग अश्लील एवं भद्दे हैं। इन फूहड़ और अश्लील बातों को किसी अजनबी व्यक्ति के सामने लिखाने में संकोच करना स्वाभाविक है। प्रदर्शन स्थल पर जाकर कलाकारों से सम्पर्क करके लिख पाना भी अपने में कम कष्टसाध्य कार्य नहीं है, क्योंकि विवरण लेखक बाराती और घराती की ओर से आमंत्रित न होने के कारण उपेक्षित रह जाय तो क्या आश्चर्य। देहातों में प्रदर्शन प्रायः मशाल की रोशनी में होता है, अतः वार्ताओं को लिखने के लिए टार्च की रोशनी या माचिश खुरचने के अलावा कोई अन्य चारा ही नहीं।

लोक-कलाकार प्रदर्शन करते समय मूल कथावस्तु में अपनी बहुत सी सामग्री जोड़ देते हैं। केवल कथावस्तु में ही नहीं, पात्रों-चरित्रों तथा अवान्तर प्रसंगों के कारण अत्यधिक फेर फार हो जाने से न तो कथा का तारतम्य और न चरित्र के संगठन का पता चलता था। एक नाटक को कई बार देखने से यह सहज ही ज्ञात हो जायेगा कि प्रत्येक बार कितना परिवर्तन और मूल कथावस्तु में कितना फेरफार हो गया है। विदूषक की बात बिल्कुल बेसिर-पैर की होती है, उसको सुनने के लिए ही बहुत धैर्य की आवश्यकता है, फिर लिखना असम्भव ही है।

इस प्रकार जैसे-तैसे सामग्री का संकलन हो जाने के बाद प्रस्तुत कार्य को आकार देने का प्रयास किया गया। प्रस्तुत अध्ययन का शीर्षक है "भोजपुरी का लोकधर्मी नाट्य"। इस शीर्षक के अनुसार इस अध्ययन का उद्देश्य भोजपुरी की समस्त नाट्य परम्परा के स्वरूप, स्रोत और इतिहास को स्पष्ट करते हुए उसका तुलनात्मक आधार पर मूल्यांकन करना है। भोजपुरी उत्तर-प्रदेश और बिहार के एक विस्तृत भू-भाग में बोली जाती है। अतः सर्वेक्षण के समय उत्तर-प्रदेश के सम्पूर्ण भोजपुरी भाषी जिलों का तथा बिहार के अधिकांश जिलों के लोकनाट्य रूपों को प्रत्यक्ष देखने का प्रयास किया। इस दृष्टि से पश्चिमी बिहार और पूर्वी उत्तर-प्रदेश के अंचलों तथा झारखण्ड राज्य के अनेक जनपदों और मिर्जापुर के सुदूर दक्षिणांचल के समस्त भोजपुरी भाषा-भाषी अंचलों के सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न कर किया गया। उपर्युक्त आदिवासी अंचलों को समेटने में कई कठिनाइयाँ थीं -

1. मूल भोजपुरी संस्कृति और लोकसाहित्यिक प्रवृत्ति की दृष्टि से इनका स्वतंत्र अस्तित्व ।
2. यहाँ के नाट्य प्रवृत्तियों की अपनी अलग पहचान का अभाव ।
3. नृत्य-गीतों की बहुलता जिन्हें नाट्य-गीत रूप देने का कोई प्रयास नहीं हुआ ।
4. भोजपुरी भाषा-भाषी अंचलों में इन क्षेत्रों के नाट्य प्रदर्शनों का मैदानी क्षेत्र में बसे आदिवासी सजातियों द्वारा अभिनीत होना ।
5. कबीली बिहार और उत्तर-प्रदेश के अंचलों की भाषा भोजपुरी मिश्रित अवश्य है, पर उन्हें परिनिष्ठित भोजपुरी का क्षेत्र मान लेना उचित नहीं है ।

मैं अपने पूज्य गुरुवर डॉ० रामचन्द्र तिवारी (निवर्तमान आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय) एवं डॉ० (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी (पूर्व प्राफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय) को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरी पाण्डुलिपि को पढ़कर इस पुस्तक के लिये अपना अभिमत व्यक्त किया है ।

उन लोककलाकारों को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने समय देकर वाचिक परम्परा से चले आ रहे लोक नाटकों को गाकर तथा संवाद सुनाकर मुझे सहयोग प्रदान किया है। इन लोककलाकारों की वार्ताओं ने अमृतवाणी के रूप में मुझे प्रेरणा प्रदान की है ।

इसके अतिरिक्त मैं उन सभी ज्ञात तथा अज्ञात स्नेहिल बंधुओं को जो मेरे कार्य को सुगम और प्रशस्त बनाने में सहायक रहे हैं, हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

और अंत में, अपनी सहधर्मिणी श्रीमती मालती को किस रूप में धन्यवाद दूँ जो मेरे पूरे कार्य के समय अपनी क्षमता का अमृत पिलाती रही हैं, उनकी प्रेरणा के सम्बल को, अनुरागमय त्याग को क्या मैं कभी विस्मृत कर पाऊँगा। लोकसंस्कृति के सारस्वत साधक इस ग्रन्थ को पढ़कर प्रसन्न हों, यही मेरी अभीप्सा है ।

बलिया,

बसंत पंचमी, सम्वत् 2063

— डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी

अनुक्रम

भोजपुरी भाषा और साहित्य / 15

लोकनाटक और भोजपुरी लोकनाटक / 47

भोजपुरी लोकधर्मी नाटकों का विकास / 83

बिदेसिया और उसकी परम्परा / 159



भोजपुरी भाषा और साहित्य

भोजपुरी भाषा का उद्भव

राष्ट्र भाषा हिन्दी की परिधि में हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा बोली, विभाषा और भाषा के रूप में भोजपुरी का विशिष्ट स्थान है। 50,000 वर्गमील विस्तीर्ण और लगभग छः करोड़ भाषा-भाषियों द्वारा व्यवहृत यह क्षेत्रीय लोकभाषा है, जो संख्या की दृष्टि से संसार की बोलियों में परिगणित है। ग्रियर्सन ने इसे मागधी परिवार की पश्चिमी शाखा 'बिहारी' के अन्तर्गत रखा है,¹ जिसकी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं। डॉ० जयकान्त मिश्र ने अपने शोध-प्रबन्ध में इसका खण्डन किया है।² उनका तर्क है कि भोजपुरी का सम्बन्ध बिहार की अपेक्षा उत्तर प्रदेश से अधिक है। उन्होंने डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के इस मत को आधार बनाकर अपने मत की पुष्टि की है कि भोजपुरी क्षेत्र पर सदा पश्चिम का प्रभाव रहा है।³ डॉ० ग्रियर्सन ने यह स्वीकार किया है कि मैथिली और मगही का पारस्परिक सम्बन्ध जितना घनिष्ठ है, उतना उनमें से किसी का भी भोजपुरी के साथ नहीं है। एक ओर मैथिली और मगही और दूसरी ओर भोजपुरी के धातुरूपों में जो स्पष्ट भेद है, उसको दृष्टि में रखते हुए डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने भोजपुरी को मैथिली-मगही से भिन्न एक पृथक वर्ग 'पश्चिमी मागधी' के अन्तर्गत रखा है।⁴ डॉ० उदय नारायण तिवारी भी ग्रियर्सन के मत का समर्थन करते हुए भोजपुरी को "बिहारी वर्ग" में रखते हैं। उनका कथन है कि भोजपुरी पूर्वी मागधी परिवार की सबसे पश्चिमी बोली है। ग्रियर्सन ने पश्चिमी मागधी को बिहारी के नाम से अभिहित किया है। बिहारी से ग्रियर्सन का उस एक भाषा से तात्पर्य है जिसकी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं।⁵ इन मतों से भिन्न मत रखते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'ग्रामीण हिन्दी' में भोजपुरी को हिन्दी क्षेत्र में माना है,⁶ जबकि पं० ज्वाला प्रसाद

जायसवाल ने 'काशिका का व्याकरण' लिखकर यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि भोजपुरी अवधी की सगी बहिन नहीं तो कम से कम सौतेली बहिन अवश्य है।⁷ डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने भोजपुरी भाषा के ऐतिहासिक और रूपगत अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'भोजपुरी' प्राच्य भाषा वर्ग के अन्तर्गत आती है, जिसके पश्चिमी रूप अर्द्ध-मागधी और पूर्वी रूप मागधी के बीच के प्रदेश से सम्बद्ध होने के कारण उसमें अंशतः दोनों के लक्षण पाये जाते हैं।⁸ इस विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत डॉ० विश्वनाथ प्रसाद के उपर्युक्त मत से साम्य रखता है।⁹ इस प्रकार भोजपुरी बोली का सम्बन्ध अर्द्ध-मागधी और मागधी दोनों अपभ्रंशों से है, किन्तु 'भोजपुरी' को पूर्णतः न तो अर्द्ध-मागधी और न मागधी से ही विकसित माना जा सकता है।¹⁰

भोजपुरी नामकरण

भोजपुरी भाषा के नामकरण का इतिहास बड़ा ही रोचक है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। नामकरण को लेकर जो भी तर्क दिये गये हैं, उनमें निम्न चार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं –

(1) मालवा के राजा भोजदेव के नाम पर भोजपुर –

जार्ज ग्रियर्सन¹¹, श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह¹² और शाहाबाद गजेटियर¹³ के अनुसार जब मालवा के अन्तिम राजा भोजदेव ने इस क्षेत्र को जीता तो उन्होंने भोजपुर की नींव रखी, जो आजकल "नवका भोजपुर" तथा "पुरनका भोजपुर" के नाम से प्रसिद्ध है। राजा भोज के किले का भग्नावशेष आज भी "पुरनका भोजपुर" के रूप में अवशिष्ट है।

(2) गुर्जर प्रतिहार मिहिर भोज के नाम पर भोजपुर –

श्री पृथ्वी सिंह मेहता ने ग्रियर्सन के मत का खण्डन करते हुए यह तर्क दिया है कि मालवा का राजा भोज महमूद गजनवी का समकालीन था। वह बिहार कभी नहीं आया था। उनके अनुसार गुर्जर प्रतिहार मिहिर भोज ने अपने नाम से भोजपुर किले की स्थापना की और उसी नाम से आसपास की बोली प्रसिद्ध हुई।¹⁴

(3) उज्जैन के भोजों के नाम पर भोजपुर –

डॉ० उदयनारायण तिवारी¹⁵ और डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय¹⁶ के मत से भोजपुरी बोली का नामकरण शाहाबाद जिले के भोजपुर परगना के आधार पर हुआ है। कहते हैं कि शाहाबाद जिले में भ्रमण करते हुए डॉ० बुकनन सन् 1812 ई० में

भोजपुर आये थे। उन्होंने मालवा के भोजवंशी 'उज्जैन' राजपूतों के हाथों चेरों जाति के पराजय की घटना के सम्बन्ध में लिखा है।

(4) विश्वामित्र के यजमान भोजों के नाम पर भोजपुर –

डॉ० ए० बनर्जी शास्त्री का तर्क¹⁷ है कि भोजपुर का नामकरण मालवा या उज्जैन के राजा भोज के नाम पर नहीं हुआ है, वरन् विश्वामित्र के यजमान भोजों के नामानुसार हुआ है। डॉ० ए० बनर्जी शास्त्री का कथन है कि विश्वामित्र जिन लोगों के बीच अपने यज्ञ कराते थे, उन्होंने उन्हें 'इमे भोजाः' कहा है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजपरिवार द्वारा "भोज" उपाधि धारण करने का उल्लेख मिलता है।¹⁸ डॉ० बनर्जी का मत ऋग्वेद¹⁹ पर आधारित है, जो इस प्रकार है –

*इमे भोजाः अंगिरसो विरूपा द्विवस्युत्रासो असुरस्य वीराः ।
विश्वामित्राय ददतो मधानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः ॥*

डॉ० ए० बनर्जी शास्त्री के मत का उल्लेख करते हुए डॉ० श्रीधर मिश्र का अनुमान है— 'सम्भव है कि विश्वामित्र के ये यजमान भोज कहलाये हों और उनका निवास स्थान भोजों की पुरी' कहलाई हो और फिर उसी से भोजपुर हो गया हो।²⁰

नामकरण सम्बन्धी इन मतों में डॉ० उदयनारायण तिवारी ने 'आइने-अकबरी' के एक वृत्तान्त का उल्लेख करते हुए प्रमाणित किया है कि उज्जैन के भोजों के नाम पर ही भोजपुर नाम पड़ा, जिन्होंने प्राचीन काल में इस क्षेत्र को विजित कर उस पर शासन स्थापित किया था। डुमरांव के निकट भोजपुर नगर ही इनकी राजधानी थी। 'नवरत्न दुर्ग' का ध्वंशावशेष अब भी वहाँ वर्तमान है। इसके स्थापत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मध्य युग की निर्मिति है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन नगर भोजपुर के नाम पर ही इस क्षेत्र का नाम भी भोजपुर पड़ गया, जो आगे चलकर इस नाम के परगने तथा जिले के नामकरण का आधार बना। भोजपुर नगर के दक्षिण तथा वर्तमान आरा जिले के उत्तर का आधा भाग प्राचीन काल में इस प्रदेश की सीमा थी। इस बात का उल्लेख मिलता है कि 18वीं शताब्दी में भोजपुर एक प्रान्त था। धीरे-धीरे इसका विशेषण भोजपुरी, इस प्रदेश के निवासियों तथा उनकी बोली के लिए भी प्रयुक्त होने लगा, चूंकि इस क्षेत्र (प्रान्त) की बोली ही इसके उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम में भी बोली जाती थी, इसलिए भौगोलिक दृष्टि से भोजपुर प्रान्त से बाहर होने पर भी वहाँ की जनता तथा उसकी भाषा के लिए भोजपुरी शब्द ही प्रचलित हो चला। इस सन्दर्भ में डॉ० तिवारी का निष्कर्ष है— 'यह एक विशेष

बात है कि भोजपुर के चारों ओर की ढाई करोड़ से अधिक जनता की बोली का नाम भोजपुरी हो गया। प्राचीन काल में भोजपुरी का यह क्षेत्र 'काशी', 'मल्ल' तथा 'पश्चिमी मगध' एवं झारखण्ड (वर्तमान छोटा नागपुर) के अन्तर्गत था। मुगलों के राजत्व काल में जब भोजपुर के राजपूतों ने अपनी वीरता तथा सामरिक शक्ति का विशेष परिचय दिया, तब एक ओर जहाँ भोजपुरी शब्द जनता तथा भाषा दोनों का वाचक बनकर गौरव का द्योतन करने लगा, वहाँ दूसरी ओर वह एक भाषा के नाम पर प्राचीन काल के तीन प्रान्तों को एक प्रान्त में गूँथने में भी समर्थ हुआ।²¹

भोजपुरी की व्याप्ति

भोजपुरी एक जीवन्त भाषा है। 'यह भाषा लगभग 50 हजार वर्गमील में फैली हुई है।'²² इसकी सीमान्त रेखाएँ किसी एक प्रान्त की राजनैतिक सीमा से सम्बद्ध नहीं है। इस भाषा के क्षेत्र के अन्तर्गत वर्तमान भारतवर्ष के चार राज्यों के भू-भाग आते हैं। बिहार प्रान्त के चम्पारन, बेतिया, सारन, सीवान, गोपालगंज, शाहाबाद, झारखण्ड राज्य के रांची, छोटा नागपुर और पलामू जिले के अधिकांश क्षेत्रों में भोजपुरी बोली जाती है। उत्तर प्रदेश के गाजीपुर, बलिया, वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर के अधिकांश पूर्वी भाग, आजमगढ़, गोरखपुर, देवरिया और बस्ती जिले के अधिकांश पूर्वी भाग भोजपुरी भाषाभाषी हैं। बस्ती जिले के उत्तर-पश्चिम, नेपाल की तराई में स्थित, यह सीमा 'जरवा' तक चली जाती है। यहाँ पर भोजपुरी की सीमा एक ऐसी पट्टी बनाती है, जिसका कुछ भाग नेपाल की सीमा के अन्तर्गत तथा कुछ भारतीय सीमा के अन्तर्गत आता है। यह सीमा बहराइच तक चली गयी है। इसमें 'थारु बोली' बोली जाती है, जिसमें भोजपुरी के ही रूप मिलते हैं। मध्य-प्रदेश के बहुत से क्षेत्रों में भोजपुरी भाषा का प्रसार है।

भोजपुरी जनसंख्या

ग्रियर्सन ने ब्रिटिश भारत के 32 जिलों में निवसित भोजपुरी भाषा-भाषियों की संख्या 3, 86, 878 बतलाई है।²³ वर्तमान समय तक इस आँकड़े में वृद्धि का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। आज भारत के अतिरिक्त मारीशस तथा फिजी द्वीपों में प्रवसित 70 प्रतिशत जनसंख्या भोजपुरी भाषा भाषी हैं। दक्षिण अफ्रीका, केनिया तथा गुआना में भी भोजपुरी भाषा व्यवहृत होती है। इस प्रकार बिहार और उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रदेशों में तथा विदेशों में भी भोजपुरी भाषाभाषियों की कुल संख्या साढ़े पाँच करोड़ से भी अधिक ठहरती है,²⁴ जबकि भोजपुरी की अन्य बहिनो-मैथिली और मगही के बोलने वालों की संख्या दो करोड़ से भी कम है। इतना ही नहीं, अपितु भोजपुरी भाषियों की संख्या हिन्दी की अन्य बोलियों- अवधी, ब्रज, बघेली,

बुन्देलखण्डी और छत्तीसगढ़ी के भाषाभाषियों से भी कहीं बहुत अधिक है।²⁵ इस प्रकार भाषाभाषियों की संख्या और सीमा विस्तार की दृष्टि से भोजपुरी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं की पंक्ति में आ जाती है।

भोजपुरी की विभाषाएँ

भोजपुरी क्षेत्र के पूर्व में मैथिली और मगही, दक्षिण में उड़िया, पश्चिम में छत्तीसगढ़ी और अवधी और उत्तर में नेपाली भाषा के क्षेत्र हैं।

ग्रियर्सन ने भोजपुरी को चार भागों में विभक्त किया है— उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी तथा नगपुरिया।²⁶ डॉ० उदयनारायण तिवारी ने उत्तरी भोजपुरी को दो विभाषाओं में वर्गीकृत किया है— सरवरिया और गोरखपुरी।²⁷ उनके अनुसार भोजपुरी भाषा के चार वर्गों का सीमा विस्तार इस प्रकार है— 'सोन नदी के दक्षिण नगपुरिया भोजपुरी बोली जाती है। उत्तरी तथा नगपुरिया भोजपुरी के बीच में ही दक्षिणी तथा पश्चिमी भोजपुरी का क्षेत्र है, यदि बरहज से गाजीपुर शहर तक और वहाँ से सोन नदी तक रेखा खींची जाय तो इसके पूरब दक्षिण भोजपुरी तथा पश्चिम का क्षेत्र पश्चिमी भोजपुरी का क्षेत्र आ जायेगा।'²⁸ डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भोजपुरी के तीन प्रधान भेद माने हैं। आदर्श (स्टैण्डर्ड भोजपुरी), पश्चिमी भोजपुरी और नगपुरिया। इसके अतिरिक्त इसकी दो और उपबोलियाँ (सब-डायलैक्ट्स) भी हैं, जो मघेसी और थारू के नाम से जानी जाती हैं।²⁹

आदर्श भोजपुरी

भोजपुर गाँव के चतुर्दिक व्यवहृत भोजपुरी आदर्श भोजपुरी मानी जाती है। इसका क्षेत्र शाहाबाद (वर्तमान भोजपुर जिला), सारन, बलिया, पूर्वी देवरिया तथा पूर्वी गाजीपुर है। डॉ० उदयनारायण तिवारी इस बोली के सम्बन्ध में लिखते हैं— 'आदर्श भोजपुरी अपनी अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक श्रुति मधुर है। जिस प्रकार ईरानी लोगों की बोलचाल की भाषा फारसी तथा फ्रेंच बोलने वालों के लहजे में एक विशेष प्रकार का संगीतात्मक माधुर्य तथा लोच— 'इन्टोनेशन' होता है, उसी प्रकार का माधुर्य तथा लोच आदर्श भोजपुरी में भी होता है।'³⁰

पश्चिमी भोजपुरी

पश्चिमी भोजपुरी फैजाबाद के पूर्वी भाग, जौनपुर के पूर्वी भाग, आजमगढ़, वाराणसी, गाजीपुर का पश्चिमी भाग, मिर्जापुर का मध्य भाग, बस्ती का पूर्वी छोर, गोरखपुर तथा देवरिया जिले के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। यह भारोपीय भाषा

परिवार के पूर्वी समुदाय की सबसे पश्चिमी सीमान्त बोली है, जो अवधी से काफी समानता रखती है।³¹

नगपुरिया, राँची और पलामू जिले के अधिकांश दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती है। इस पर मगही, 'छत्तीसगढ़ी सरगुजिया' और उराँव मुंडारी का प्रभाव परिलक्षित होता है। कुछ विद्वानों ने इसे मगही की उपभाषा माना है, किन्तु मूलतः यह भोजपुरी है। ग्रियर्सन ने भी तटस्थ होकर इसे भोजपुरी के अन्तर्गत रखा है।³²

मधेसी, चम्पारन भी भोजपुरी का नाम है। चम्पारन जिला गोरखपुर और मुजफ्फरपुर जिले के मध्य में है। अतः यहाँ की भोजपुरी का गोरखपुर की उत्तरी भोजपुरी और मुजफ्फरपुर की मैथिली का प्रभाव पड़ता है।

थारू भाषा, हिमालय की तराई में बसने वाली 'थारू' नाम की आदिवासी जाति की बोली है। यह भाषा बस्ती जिले की भोजपुरी का विकृत रूप है। जिस प्रकार थारू जाति में मंगोल रक्त का मिश्रण है, उसी प्रकार 'थारू भोजपुरी' पर पार्श्ववर्ती पहाड़ी भाषाओं का प्रभाव है। ग्रियर्सन ने 'थारू' को भोजपुरी के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है।³³

एक विस्तृत क्षेत्र की बोली होने के कारण भोजपुरी में विभिन्नता का आना स्वाभाविक है। वैसे भी कहावत प्रसिद्ध है— 'चार कोस पर पानी बदले, आध कोस पर बानी'। इस आधार पर भोजपुरी की बोलियों को छः भागों में विभक्त किया जा सकता है— बल्लिका, मल्लिका, काशिका, नगपुरिया, थारू और मधेसी।³⁴

भोजपुरी गाँव के आस-पास तथा शाहाबाद, बलिया, गाजीपुर आदि जनपदों में 'बल्लिका' का प्रचलन है। बस्ती, फैजाबाद, जौनपुर, देवरिया, आजमगढ़ आदि जनपदों के आधे भागों में बोली जाने वाली भाषा को मल्लिका नाम से सम्बोधित करते हैं, क्योंकि प्राचीन काल में इन क्षेत्रों में मल्ल राजाओं की रियासतें थीं। 'काशिका' काशी और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों की भाषा है। यह जौनपुर के दक्षिणी-पूर्वी और मिर्जापुर के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में तथा उसके आस-पास बोली जाती है। इस पर छत्तीसगढ़ी का प्रभाव है।

भोजपुरी : भाषा या बोली

भाषा-विज्ञान के विद्वानों के मतानुसार भाषा उसे कहते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य समाज के प्राणी परस्पर भावों और विचारों का आदान-प्रदान लिखकर या बोलकर करते हैं। यदि वैज्ञानिक और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भाषा मनुष्य के केवल विचार-विनिमय का ही साधन नहीं है, विचार का भी साधन है। भाषा का विचार से अटूट सम्बन्ध है।

इसे मनुष्य अपने पूर्वजों से सीखता आया है। इसके कारण ही भाषा में विकार अथवा परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इस कसौटी पर देखने से यही ज्ञात होता है कि भोजपुरी किसी छोटे से स्थान विशेष या जिला विशेष की बोली नहीं, बल्कि दो प्रान्तों में बँटे हुए सोलह जिलों की और लगभग साढ़े पाँच करोड़ जनता द्वारा बोली जाने वाली एक सजीव भाषा है। इसमें स्थान भेद से कई बोलियाँ प्रचलित हो गई हैं, जैसे छपरा जिला की भोजपुरी को 'छपरहिया' तथा बनारस की भोजपुरी को "बनारसी" बोली कहते हैं। इसी प्रकार बलिया के पश्चिमी तथा आजमगढ़ के पूर्वी क्षेत्र की बोली 'बंगरही' बोली कहलाती है। इसमें समृद्ध लोकसाहित्य भी है। उसका वर्षों का अपना सांस्कृतिक, राजनैतिक और साहित्यिक इतिहास है। ऐसी स्थिति में भोजपुरी के गुणों को न जानने के कारण यदि उसको कोई केवल बोली कहे तो यह सर्वथा अनुचित है।³⁵ भोजपुरी में आज तीव्र वेग से नवीन साहित्य का सृजन हो रहा है। उसके बोलने वालों का उसके प्रति प्रेम और उत्साह इतना अधिक है कि उसके साहित्यिक विकास में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता है।

भोजपुरी भाषा की कुछ अद्भुत विशेषताएँ हैं। सही अर्थों में यह लोक-व्यवहार और व्यवसाय की भाषा है। यह भाषा व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई नहीं है। इसकी ध्वनियों में कुछ विशिष्ट प्रकार के रागात्मक तत्त्व हैं, जो अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं है। इसी रागात्मक प्रवृत्ति के कारण भोजपुरी भाषा के कई पद विभिन्न रागों में ध्वनित होकर विभिन्न अर्थों के बोधक होते हैं। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने भोजपुरी भाषा की इस रागात्मक प्रवृत्ति का विशद् और वैज्ञानिक अध्ययन किया है। इस भाषा के शब्दकोष के वैज्ञानिक अध्ययन से कई भाषागत विशेषताएँ प्रकट होती हैं। इसमें संस्कृत के अतिरिक्त भारत की प्रायः सभी भाषाओं और विदेश की फारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेजी, पुर्तगीज एवं कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्द मिलते हैं। इस भाषा में कितने ही वैदिक शब्द सुरक्षित हैं। इस प्रकार, इस भाषा ने परम्परा की रक्षा करते हुए प्रगतिशीलता और समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

भोजपुरी में लिखित साहित्य का अभाव

उत्तरी भारत के इतने लम्बे क्षेत्र में बोली जाने वाली तथा अपनी बोली के प्रति बोलने वालों का अगाध स्नेह होने पर भी यह आश्चर्य की बात है कि इस भाषा में साहित्य की विशेष सृष्टि नहीं हो सकी है। जहाँ हिन्दी की अन्य बोलियाँ— ब्रज, अवधी, मैथिली साहित्यिक रचनाओं से भरी हैं, वहाँ भोजपुरी में इनका अभाव खटकने लगता है। इस अभाव के कई कारण हैं —

(1) प्राचीन काल में जहाँ मिथिला तथा बंगाल के ब्राह्मणों ने संस्कृत के साथ-साथ अपनी मातृभाषाओं को भी साहित्यिक रचना के लिए अपनाया, वहाँ भोजपुरी ब्राह्मणों ने केवल संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष बल दिया है, उधर संस्कृत भाषा का केन्द्र काशी भी भोजपुरी क्षेत्र में ही है। इस कारण भी संस्कृत अध्ययन के लिए ही भोजपुरियों को विशेष प्रोत्साहन मिला।³⁶

(2) प्रो० बलदेव उपाध्याय का मत है— 'भोजपुरी साहित्य की अभिवृद्धि न होने का प्रधान कारण है राज्याश्रय का अभाव। भोजपुरी प्रदेश में किसी प्रभावशाली, व्यापक, प्रतापी नरेश का पता नहीं चलता, अधिकतर इसमें किसानों की ही बस्तियाँ हैं। किसी गुणग्राही नरेश का आश्रय न मिलने से इस भाषा का साहित्य समृद्ध न हो सका।'³⁷

(3) भोजपुरी में शिष्ट साहित्य के अभाव के कारणों में एक कारण डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने यह दिया है कि भोजपुरी को किसी प्रतिभाशाली कवि की प्रतिभा का प्रसाद प्राप्त नहीं हुआ। ब्रजभाषा को सूर और बिहारी का वैभव प्राप्त था, अवधी को तुलसी और जायसी ने अपनाया था। मैथिली को विद्यापति के रूप में 'कविता का मैथिल कोकिल' मिला था और बंगला को चण्डीदास के रूप में 'मधुर, कोमल, कान्त' प्रतिभा मिली, परन्तु भोजपुरी को न तुलसी की ही प्रतिभा मिली और न बिहारी की वाग्विभूति, न विद्यापति का कोकिल कण्ठ और न चण्डीदास का मधुर पद।³⁸ इन उपर्युक्त कारणों से भोजपुरी में समृद्ध साहित्यिक रचनाएँ कम देखने को मिलती हैं, इसीलिए इस भाषा का समृद्ध साहित्यिक भाषाओं में न पनपना, स्वाभाविक ही है।

भोजपुरी लोकसाहित्य का स्वरूप और वर्गीकरण

भोजपुरी भाषा में साहित्य का सृजन भले ही अल्प मात्रा में हुआ हो, परन्तु इसमें लोकसाहित्य का अक्षय एवं अनन्त भण्डार है। यद्यपि कबीर एवं तुलसी भोजपुरियों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं, तो भी आल्हा, लोरिकी, बिहुला तथा सोरिठी की लोकगाथाओं का इनकी तुलना में किसी भी प्रकार कम महत्त्व नहीं है। पर्वो-त्योहारों तथा अनेकानेक उत्सवों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत एवं कथाएँ अशिक्षित ग्रामीणों का मनोरंजन करती हैं। उनका जीवन इन्हीं लोकगीतों, गाथाओं एवं कथाओं से जुड़ा है।³⁹ भोजपुरी क्षेत्र के जनजीवन की अनुभूतियाँ लोकसाहित्य की विधाओं में युगों-युगों से संचित हैं। गुण और गणना की दृष्टि से निःसन्देह भोजपुरी का लोकसाहित्य संसार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कदाचित् इतना सम्पन्न लोकसाहित्य अन्य किसी भाषा या बोली में दुर्लभ है। यदि

भोजपुरी लोकसाहित्य का सम्यक् रूपेण संकलन एवं अनुशीलन किया जाय तो निःसन्देह उससे हमारे हिन्दी साहित्य की गौरव वृद्धि होगी। हर्ष की बात है कि उच्च अध्ययन में लोकसाहित्य के अध्येताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है।

लोकसाहित्य की अनेक विधाएँ— लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोककथा, मुहावरे, कहावतें, पहेलियाँ, लोरियाँ आदि हैं। इन सबका अध्ययन अपने आप में अत्यन्त रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि लोकसाहित्य जनता की परम्परागत चित्तवृत्ति का इतिहास है।

भोजपुरी क्षेत्र का सांस्कृतिक परिवेश और भोजपुरी लोकनाट्य

भोजपुरी क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा का विवेचन प्रस्तुत करने के पूर्व 'संस्कृति' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। 'संस्कृति' शब्द अर्थ और परिभाषा की दृष्टि से अत्यन्त विवादास्पद है। कुछ विद्वान इसे सभ्यता का तो कुछ शिष्टाचार का पर्याय मानते हैं, किन्तु रहन—सहन मात्र को संस्कृति माना जाय तो संस्कृति परिवर्तनशील सिद्ध होती है, इसलिए समाज के आचार, रहन—सहन, पहनावा आदि से संस्कृति की पूर्ण अवधारणा एवं अस्मिता नहीं हो सकती। ये सब संस्कृति के बजाय सभ्यता के अंग हैं। संस्कृति का सम्बन्ध हमारे मन और चित्त के गहरे संस्कारों से है। समाज—जीवन के शरीर को लेकर जिन वाह्य लक्षणों की सृष्टि हुई है और मानव मन की वाह्य प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं से परिचालित एवं नित्य परिवर्तित क्रियाओं आदि का जो कुछ विकास हुआ है, उसे सभ्यता कहेंगे और उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों से जो कुछ शाश्वत एवं परम्परा प्राप्त क्रियाएँ निर्मित हुई हैं, उसकी सम्पूर्ण समग्रता का बोध संस्कृति है। शरीर और आत्मा की भाँति सभ्यता और संस्कृति जीवन की दो भिन्न परन्तु परस्पर पूरक आयाम हैं। 'दीपक की लौ सभ्यता है, उसके अन्दर भरा स्नेह संस्कृति है। सभ्यता जीवन का रूप है, संस्कृति उसका सौन्दर्य है, जो रूप से भिन्न भी है, अभिन्न भी है। जो उसके पीछे से झाँकता है और जीवन के अवगुण्ठन से भी बाहर फूट पड़ता है।'

वास्तव में किसी देश या क्षेत्र की संस्कृति तो वहाँ के निवासियों के जीवन सरणि का अपना ढंग है। प्रत्येक समाज का अपना रहन—सहन, रीति—रिवाज, परम्पराएँ, विश्वास, सौन्दर्यानुभूति, जीवन—मूल्य, धारणाएँ और ऐतिहासिक—सामाजिक—जातीय मान्यताएँ होती हैं। इन सभी का समन्वित बोध एवं क्रियात्मक प्रतिफलन ही संस्कृति है। इस कसौटी पर जब हम भोजपुरी क्षेत्र के सांस्कृतिक स्वरूप की परख करते हैं, तो हमारा ध्यान कई विशेषताओं की ओर जाता है।

गंगा, सरयू, सोन, गण्डक, नारायणी, सदानीरा और अनोमा (वर्तमान आमी नदी) आदि सरिताओं की तरंगित वारि-धाराओं से अभिसिंचित भोजपुरी क्षेत्र की भूमि चिरकाल से अपने गर्भ में एक सांस्कृतिक इतिहास छिपाये हुई है। इस क्षेत्र के वैदिक एवं पौराणिक जीवन-विधि का यथेष्ट परिचय प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है। कुछ विद्वानों के मतानुसार ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित महाराजा भोज इसी क्षेत्र के शासक थे और विश्वामित्र इन्हीं के पुरोहित थे, जिनका आश्रम व्याघ्रसर (वर्तमान बक्सर) में आज भी वर्तमान है। यह भी बताया जाता है कि इन्द्र ने इसी क्षेत्र को पवित्र एवं सुरक्षित जानकर अपने कलंकित जीवन से मुक्ति पाने के लिए इसी क्षेत्र में अनन्तकाल तक निवास किया है।

बुद्ध और महावीर के काल में भारतीय इतिहास में प्रथमतः इसी क्षेत्र में गणराज्य की स्थापना हुई। बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखानुसार इस क्षेत्र में 16 महाजनपदों में से निम्नांकित सात जनपदों की अवस्थिति थी— शाक्य, कोलिय, मौर्य, मल्ल, वुलि, काशी और मगग।⁴⁰ महाकारुणिक विश्व लोकनायक भगवान बुद्ध ने इसी भूमि के शाक्य कुल में अवतरित होकर अपने उपदेशों से इस भू-भाग को पवित्र एवं भयमुक्त किया था। इस जनपद के प्रमुख शासकों में अजातशत्रु, ब्रह्मदत्त, शिशुनाग, समुद्रगुप्त आदि इतिहास प्रसिद्ध हैं, जिनकी सेनाओं में वर्तमान भोजपुरी क्षेत्र के योद्धाओं की पर्याप्त संख्या थी, जो अपने वीरत्व और स्वामिभक्ति के लिए विख्यात हैं। समुद्र गुप्त के सामन्त वीर सेनानी कालान्तर में लोकगाथाओं के विषय बनकर लोरिक और सँवरू के नाम से लोकप्रसिद्ध हुए।⁴¹

भोजपुरी क्षेत्र का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मौर्य काल से लेकर 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तक इस क्षेत्र के यशस्वी निवासी अपनी आन-बान और शान के लिए बारम्बार जूझे। यहाँ के लोग स्वभाव से प्रचण्ड वीर, अक्खड़ और स्वाभिमानी होते रहे हैं। भोजपुरी संस्कृति और सभ्यता के मूल में प्रधान रूप से इस वीर-प्रसविनी भूमि की संस्कारसिद्ध वीर प्रवृत्ति नैसर्गिक रूप से निहित हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'भोजपुरी उस शक्तिशाली, स्फूर्तिपूर्ण और उत्साही जाति की व्यावहारिक भाषा है, जो परिस्थिति और समय के अनुकूल अपने को बनाने के लिए सदा प्रस्तुत रहती है और जिसका प्रभाव हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाग पर पड़ा है।'⁴²

इस प्रकार के युद्धप्रिय एवं संघर्षशील जाति से यह आशा कम की जानी चाहिए कि उसकी अभिरुचि कलाओं एवं नाटकों की ओर होगी, लेकिन जब हमारा ध्यान

भोजपुरी क्षेत्र के निवासियों की सांस्कृतिक एवं कलात्मक अभिरुचि की ओर जाती है, तो हमारी यह धारणा निर्मूल हो जाती है। इस क्षेत्र की कलागत उपलब्धियों के मूल में भोजपुरी क्षेत्र की प्राकृतिक संरचना का भी कम योगदान नहीं है। हिमालय के उत्संग से निःसृत गण्डक, सरयू, तमसा, गोमती, नारायणी, गंगा तथा विन्ध्याचल की उपत्यकाओं से प्रवाहित महानद शोण के द्वारा सिंचित मृत्तिका से निर्मित भोजपुरी क्षेत्र की धरित्री नाना प्रकार के वीरुधों एवं वन्य जीवों से परिपूर्ण हैं। ऐसे वातावरण में भोजपुरी क्षेत्र के लोग चिरकाल से निःसर्ग सिद्ध लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोकोक्तियों एवं लोकनाट्यों द्वारा अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति करते रहे हैं। लोकगीत, लोकगाथाएँ और लोकोक्तियाँ जहाँ उनके मनोरंजन के सामान्य माध्यम रहे हैं, वहाँ लोकनाट्य उनके हृदय की अन्तःसलिला भावधारा से अभिसिंचित होकर पूरे जनमानस को रससिक्त कर देने वाली कलाशक्ति एवं प्रेरणा का माध्यम बनता रहा है। भोजपुरीजन जहाँ स्वभाव सिद्ध योद्धा रहे हैं, वहीं उनकी प्रकृति उत्सवप्रिय भी रही है। पालि ग्रन्थों एवं शिलालेखों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि गणराज्यों से लेकर समुद्रगुप्त के शासनकाल तक भोजपुरी क्षेत्र के लोग दौड़ की प्रतियोगिता, कन्दुक क्रीड़ा, साँप व बन्दर नचाना आदि क्रीड़ाओं में उत्साह लेते थे। पालि साहित्य के अनुसार इस क्षेत्र में अभिनय एवं तमाशों का प्रचलन था, जिन्हें 'समज्जा' नाम से अभिहित किया जाता था। तत्कालीन भारत की सबसे शक्तिशाली मगध राज्य की राजधानी राजगृह में एक बहुत बड़ी समज्जा होने का उल्लेख मिलता है, जिसे 'गिरग समज्जा' कहते थे। कदाचित् गिरि के अग्र अर्थात् पर्वत शीर्ष पर आयोजित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। इस गिरग समज्जा के लिए बड़ी तैयारी होती थी। खुले स्थानों में अभिनय एवं तमाशे होते थे, जिनको देखने के लिए लोग एकत्र होते थे और साधारण दर्शक भी बैठने के लिए मचान बनाते थे। राजगृह की गिरग समज्जा में गाने-बजाने तथा उसके साथ किसी प्रकार के अभिनय का मेला भी लगता था।⁴³

मध्य युग में जब संस्कृत की नाट्यधारा मुस्लिम आक्रमण एवं प्रभाव के कारण अवरूद्ध हो गई, तब भी भोजपुरी क्षेत्र की जनता नाना प्रकार के अनुकरणात्मक अभिनय, स्वांग, रहस, भाँड़-भड़ैती आदि के आयोजनों द्वारा अपना मनोरंजन करती रही। भोजपुरी के बहुत से लोकधर्मी नाट्य इसी युग से प्रचलित हुए हैं। भोजपुरी अंचल के मध्ययुगीन नाटकीय मनोरंजनों का उल्लेख हमें कबीर, तुलसी और जायसी के काव्य-साहित्य में भी मिलता है। उनके काव्यों में अनेक प्रकार के नाटकीय मनोविनोदों, भ्रमणशील नटों तथा अभिनेताओं के सन्दर्भ मिलते हैं। भोजपुरी की उत्सवप्रिय जनता इन स्वांग-तमाशों को देखने में कितनी तल्लीन रहती थी, इस बात का परिचय कबीर के इस पद से होता है—

कथा होय तहँ स्रोता सोवे, वक्ता मूढ़ पचाया रे।
होय जहाँ कहुँ स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे॥

जायसी ने तो मध्यकालीन उत्सवप्रिय जनता के कलात्मक जीवन का पूरा चित्र ही खींच दिया है —

कतहूँ कथा कहें कछु कोई। कतहूँ नाच कोउ भल होई॥
कतहूँ छरहरा पेखन लावा। कतहूँ पाखण्ड काठ नचावा॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला॥

तुलसी कठपुतली के नाच का दार्शनिक प्रसंग में उल्लेख करते हैं —

उमाँ दारु जोषित की नाई, सबहिं नचावत राम गुसाई॥

‘आईने अकबरी’ में अनेक प्रकार के कलाकारों का उल्लेख मिलता है, जो अनेक रीतियों से नाटकीय प्रदर्शन करते हुए उत्तरी भारत की जनता का मनोरंजन करते रहते थे। इसमें नट, बहुरूपिये, बाजीगर, नटवा, कलावंत, कीर्तनियाँ, भगतिया और भाँड आदि कलाकारों की विशेष पेशेवर जातियों के नाट्य प्रदर्शनों का यथेष्ट विवरण मिलता है। स्वांग प्रदर्शित करने वाली ये पेशेवर जातियाँ आज भी भोजपुरी क्षेत्र में विलुप्त नहीं हुई हैं।

आगामी अध्यायों में भोजपुरी लोकनाट्यों के विकासात्मक अध्ययन के क्रम में इस तथ्य पर विचार किया गया है कि किस प्रकार सिद्धों के काल (सातवीं शताब्दी) से लेकर अद्यतन भोजपुरी लोकनाट्य विभिन्न रूपों में भोजपुरी जनमानस को आन्दोलित करते रहे हैं। भोजपुरी क्षेत्र की लोक सांस्कृतिक धारा बड़ी प्रशस्त एवं वैविध्यपूर्ण है। लोकानुरंजन इस धारा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। भोजपुरी क्षेत्र के लोकजन अपनी जीवन्त स्वभाव के अनुसार लोकजीवन के सम्पूर्ण अवसरों पर नाच, गान, वाद्य आदि कला-प्रकारों के द्वारा अपना मनोरंजन करते रहे हैं। भोजपुरियों का पारिवारिक और सामाजिक जीवन लोक-कलात्मक आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण है, इसीलिए विवाह, पर्व-त्योहार, मेला आदि लोकोत्सवों के अवसर पर भोजपुरियों की मस्ती, नृत्य-गान के रूप में देखते ही बनती है। लगता है कि सदा प्रसन्न और आनन्दमय रहने वाला इनका यह गुण भोजपुरी मिट्टी की विरासत है।

प्रकृति के यौवन के अक्षय श्रृंगार से अलंकृत भोजपुरी क्षेत्र की माटी लोककला के पराग से गमकती रहती है। ऐसी माटी में पालित भोजपुरी क्षेत्र के परिश्रमी कृषक फसल के कट जाने पर पर्वों और विवाह इत्यादि के अवसरों पर जहाँ नाच और सामूहिक

गान के द्वारा अपने उल्लास को कलाओं द्वारा व्यक्त करते हैं, वहीं भोजपुरी क्षेत्र की नारियाँ भी लोकगीतों में अपने मन की टीस, कसक और प्रेमभाव को उड़ेलती हैं और जट-जटिन, जलुआ तथा श्यामा चकेवा इत्यादि लोकनाट्यों द्वारा विभिन्न भाव-भंगिमाओं के साथ पुरुष जाति के प्रति अपने मन की दमित इच्छाओं तथा वासनाओं को स्वच्छन्द रीति से व्यक्त करती हुई और अपना मनोरंजन भी करती हैं।

निष्कर्ष यह है कि भोजपुरी क्षेत्र के जनों की कलात्मक अभिव्यक्ति का क्रम लगभग हजार वर्ष से गीत-नृत्य और स्वांग के रूप में एकरस बना हुआ है। कुछ नाट्य रूपों में केवल गीत की प्रधानता है। इस प्रकार गीत, नृत्य और स्वांग तीनों तत्त्वों के योग से भोजपुरी में अनेक लोकधर्मी नाट्य परम्परायें प्रचलित हैं।

लोक शब्द की व्याख्या

‘लोक’ शब्द संस्कृत की ‘लोक’ (दर्शने) धातु में धयँ प्रत्यय पूर्वक व्युत्पन्न हुआ है।⁴⁴ जिसका धातुगत अर्थ है— देखने वाला। इस प्रकार ‘लोक’ शब्द का अर्थ हुआ ‘देखने वाला’। अतः इस क्रिया का कर्ता समस्त जनसमुदाय लोक है।⁴⁵ विद्वानों द्वारा इस शब्द का प्रयोग कई सन्दर्भों और अर्थों में किया गया है, इसलिए सर्वप्रथम इस शब्द की विभिन्न अर्थच्छायाओं पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार— ‘शब्दकोशों में ‘लोक’ शब्द के कितने ही अर्थ मिलेंगे, जिनमें से साधारणतः दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक तो वह जिससे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है। वर्तमान प्रसंग में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं। दूसरा अर्थ लोक का होता है— जनसामान्य, इसी का हिन्दी रूप लोग है। इसी अर्थ का वाचक ‘लोक’ शब्द साहित्य का विशेषण है, किन्तु इतने से लोक का वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता, जो साहित्य के विशेषण के रूप में वह प्रदान करता है।⁴⁶

‘लोक’ शब्द अंग्रेजी के ‘फोक’ शब्द का हिन्दी पर्याय है। ‘इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका’ में ‘फोक’ शब्द के विषय में यह विवरण दिया गया है— ‘आदिम समाज में तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द से सभ्य से सभ्य राष्ट्र की समस्त जनसंख्या को भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य प्रयोग में पाश्चात्य प्रणाली की सभ्यता के लिए ऐसे संयुक्त शब्दों में जैसे ‘लोकवार्ता’ (फोक्लोर), ‘लोक-संगीत’ (फोक-म्यूजिक) आदि में इसका अर्थ संकुचित होकर केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है, जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं से मुख्यतः परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली साक्षर ज्ञान है— ग्रामीण और गँवार।⁴⁷

‘लोक’ शब्द की इस गई परिभाषा को दृष्टिपथ में रखकर डॉ० सत्येन्द्र ने ‘लोक’ शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है, ‘लोक’ मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।⁴⁸ डॉ० रवीन्द्र भ्रमर की मान्यता इस शब्द के विषय में इस प्रकार है, “इस शब्द के प्रचलित अर्थ दो हैं— एक तो विश्व अथवा समाज और दूसरा जन—सामान्य अथवा जन—साधारण। साहित्य अथवा संस्कृति के एक विशिष्ट भेद की ओर इंगित करने वाले एक आधुनिक विशेषण के रूप में इस शब्द का अर्थ ग्राम्य या जनपदीय समझा जाता है, किन्तु इस दृष्टि से केवल गाँवों में ही नहीं वरन् नगरों, जंगलों, पहाड़ों और टापुओं में बसा हुआ वह मानव समाज जो अपने परम्परा प्रचलित रीति—रिवाजों और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने के कारण अशिक्षित एवं अल्प सभ्य कहा जाता है, ‘लोक’ का प्रतिनिधित्व करता है।⁴⁹

स्पष्ट है कि ‘लोक’ शब्द का प्रयोग भिन्न—भिन्न विद्वानों द्वारा अनेक रूपों एवं अर्थों में किया गया है।

जहाँ तक भारतीय प्रयोग परम्परा का सम्बन्ध है, ‘लोक’ शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जहाँ लोक और जन—समानार्थी भाव के द्योतक के रूप में आया है।⁵⁰ ऋग्वेद के ही अन्य मंत्र में ‘लोक’ शब्द का प्रयोग जीव और स्थान दोनों अर्थों में हुआ है, यथा —

नाम्या आसीदतरिक्ष शीण्णो द्यौः समवर्तत ।

पद्म्या भूमिर्दिर्दशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयत ।।⁵¹

अर्थात् भगवान की नाभि से अन्तरिक्ष की सृष्टि हुई। उनके मस्तक से स्वर्ग उत्पन्न हुआ। उनके चरणों से भूमि की सृष्टि हुई। उनके कान से दिशायेँ उत्पन्न हुई तथा सारे लोकों का निर्माण हुआ।

ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् ग्रन्थों, महाभारत एवं गीता आदि ग्रन्थों में ‘लोक’ शब्द का प्रयोग हुआ है। अशोक के शिलालेख में भी ‘लोक’ शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है, जहाँ इस शब्द से समस्त प्रजा का भाव प्रकट है।⁵²

इस शब्द का नूतन प्रयोग भी है, जिसके अन्तर्गत डॉ० श्याम परमार ने इस शब्द की परिसीमा को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका विचार है— ‘आधुनिक साहित्य की नूतन प्रवृत्तियों में ‘लोक’ का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि

से युक्त होकर साधारण जन-समाज, जिसमें पूर्व संचित परम्परायें, भावनायें, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।⁵³ डॉ० परमार ने इस शब्द के अर्थ विस्तार की चर्चा करते हुए यह मान्यता भी व्यक्त की है कि “वेद और लोक की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ लोक के स्वतंत्र महत्त्व को क्रमशः समुन्नत किया, किन्तु आज लोक का प्रयुक्त प्रभाव वेदोत्तर संस्कृति के सीमित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। उसकी भावना वैदिक और अवैदिक दोनों क्षेत्रों को स्वाभाविक रूप से स्पर्श करने लगी है।⁵⁴

जैसा कि कहा जा चुका है— हिन्दी ‘लोक’ शब्द अंग्रेजी के ‘फोक’ शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी (फोक) का पर्याय ग्राम और जन भी कुछ लोगों ने किया है। हिन्दी लोकगीतों के संग्रह की दिशा में सबसे पहले पं० रामनरेश त्रिपाठी ने ‘फोक’ शब्द के लिए ग्राम शब्द का प्रयोग किया है। इसी आधार पर उन्होंने ‘फोक सांग’ का हिन्दी पर्याय ‘ग्राम-गीत’ स्वीकार किया है, किन्तु ‘लोक’ शब्द को ग्राम का पर्याय नहीं माना जा सकता, क्योंकि लोक-शब्द की परिव्याप्ति ग्राम से अधिक विस्तृत है।

लोक और जन

‘लोक’ शब्द का एक और पर्याय शब्द ‘जन’ माना गया है। बहुत से विद्वानों ने इसके पर्याय के रूप में ‘जनपद’ या “जन” शब्द का प्रयोग किया है। स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जनपद कल्याण योजना का सूत्रपात करते हुए जनपदीय साहित्य, जनपदीय संस्कृति आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है।⁵⁵ डॉ० सत्येन्द्र ने जनपद शब्द को क्षेत्रीय संकीर्णता का बोधक बताया है और ‘लोक’ शब्द की व्यापकता का बोध कराने वाला कहा है।⁵⁶ इसके विपरीत डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय ने अपने शोध प्रबन्ध में ‘लोक’ शब्द को भ्रामक बताते हुए ‘जन’ शब्द को ही उपयुक्त माना है।⁵⁷ इससे कुछ परे हटकर विचार प्रस्तुत करते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘लोक’ शब्द की व्यापक व्याख्या की है। उनका कथन है कि लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।⁵⁸ यद्यपि लोक और जन शब्दों में कोई विशेष विरोध नहीं दिखता है फिर भी एक प्रश्न उपस्थित होता है कि किस शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन है। इस सम्बन्ध में डॉ० श्याम परमार का निम्न कथन उद्धृत करना हम अधिक उपयुक्त समझते हैं—

‘हिन्दी का ‘लोक’ शब्द ‘फोक’ का पर्यायवाची है। ‘जन’ या ‘ग्राम’ यद्यपि ‘फोक’ के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तथापि अपने सीमित क्षेत्र के कारण उन्हें लोक की व्यापकता के अनुरूप नहीं मानना चाहिए। ‘जन’ प्राचीन शब्द है। संस्कृत एवं पालि ग्रन्थों में मानव

समाज का बोध जन से ही कराया गया है। इस दृष्टि से 'लोक' और 'जन' में पर्याप्त सम्राणता है, पर प्रयोग और परम्परा के प्रचार में आधुनिक 'फोक' की अनुरूपता के लिए लोक ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिबिम्बात्मक है, न केवल इतना ही, बल्कि पूर्व संस्कारों के कारण वह 'फोक' से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करता है।⁵⁹

लोक की सर्वोच्च शक्ति

अंग्रेजी 'फोक' के पर्याय के रूप में हिन्दी में लोक के साथ ग्राम और जन शब्दों के पचड़े में न पड़कर हम लोक शब्द का ही व्यापकता के आधार पर प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस लोक की महिमा असीम है। वेद द्वारा नेति-नेति कहकर मन वाणी से अगम, अगोचर मानी जाने वाली सत्ता की गोदी में नन्दलाल या कौशल्यानन्दन के रूप में उतार लेने की शक्ति लोक में ही है। इसी तरह मातृभूमि को ब्रह्म कहकर उपासना का विषय बनाने का काम भी लोक का ही है। लोकापवाद से बड़े-बड़े महारथी भी घबड़ाते हैं। लोक संग्रह को जीवन का सर्वोच्च ध्येय मानकर कई कर्मशील जीवन-संसिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं।⁶⁰ बड़े-बड़े सम्राटों को लोकशक्ति के सामने झुकना पड़ा है। महाकवि श्री हर्ष ने शब्द प्रयोग में व्याकरण के दर्प को भंग करने वाले लोक की प्रशंसा की है—

भक्त प्रभुव्याकरणस्य दर्प पद प्रयोग ध्वनि लोक एव।

शशी यदस्यास्ति शशी ततो-यं मृगो-स्यास्तीति मृगीति नोक्तः।।

लोक की शक्ति को समझकर कुछ सर्वशास्त्रियों ने लोक-प्रमाण को भी स्वीकृति प्रदान की है। न्यायाधिकरणों में तो लोक-प्रमाण को साक्षी के रूप में प्रथम स्थान दिया गया है। लोक की सर्वोच्चता इससे भी प्रमाणित होती है कि उससे हमारे ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा प्रभावित हुई है। लोक की इस असीम महिमा को स्वीकार करते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— 'लोक हमारे जीवन का समुद्र है, उसमें भूत-भविष्य-वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। वह राष्ट्र का अमर स्वरूप है। ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन में मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक और लोक की धात्री सर्वभूतता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है, इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक, पृथ्वी और मानव इस त्रिलोकी में जीवन का कल्याणात्मक रूप है।'⁶¹

ऊपर के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि लोक शब्द अंग्रेजी के फोक का पर्याय होते

हुए भी उसकी संकुचित भावना से सर्वथा मुक्त है और उसका प्राचीन रूप पूर्व से ही हमारे यहाँ प्राप्त रहा है, जिसमें संस्कृत और परिष्कृत प्रभावों से मुक्त पुरातन जीवन के दर्शन होते हैं एवं जिसका अपना निश्चित स्वरूप उपलब्ध होता है।

अतः 'लोक' जनसाधारण है, जिसमें भू-भाग पर उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के मानव वंश सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्गभेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं के श्रेष्ठ तत्त्वों से पूरित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नगर एवं ग्राम्य दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि लोक आदिम जाति अथवा समाज के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता। लोक की अपनी एक परम्परा होती है और उस परम्परा के कारण ही लोकजीवन क्रियाशील रहता है। भारतीय लोकजीवन इसका एक जीवन्त उदाहरण है। भारतीय लोकजीवन सुदूर ग्रामों, कस्बों और नगरों में उपलब्ध होने वाले लोक संस्कारों जैसे तीज-त्योहार, व्रत-उपवास आदि से सम्बद्ध होकर लोक के यथार्थ रूप को प्रकट करता है।

लोकनाट्य की परिभाषा

लोकनाट्य— लोक तथा नाट्य, इन दो शब्दों से बना है। ऊपर 'लोक' शब्द की मीमांसा हो चुकी है। 'नाट्य' शब्द की व्याख्या के बाद ही लोकनाट्य को परिभाषित किया जा सकता है।

पाणिनि नाट्य की उत्पत्ति 'नट' धातु से मानते हैं,⁶² जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्य दर्पण' में इसका उद्भव 'नाट' धातु से माना है।⁶³ इस शब्द की व्याख्या वृहद हिन्दी कोश में इस प्रकार की गयी है— 'नाट्य; पुरुषवाचक संस्कृत का शब्द है। यह नृत्य, नाटकादि का अभिनय, नृत्यकला, अभिनय कला, अभिनेता की वेशभूषा तथा अभिनेता का द्योतक है।⁶⁴ बेवर और मोनियर विलियम्स का मत है कि 'नट' धातु 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप है। माकण्ड का मत है कि 'नृत्' धातु बहुत प्राचीन है और 'नट' का प्रचलन अपेक्षाकृत बहुत पुराना है। किसी-किसी का मत है कि 'नट' और 'नृत्' दोनों धातुएँ ऋग्वेद काल से प्रचलित हैं। दोनों का प्रयोग स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से होता आया है। सायण ने अपने भाष्य में 'नट' का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है⁶⁵ और 'नृत्' का ग्रात्र-विक्षेपण।⁶⁶ ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तर काल में दोनों धातुएँ समानार्थक होती गयीं, किन्तु कालान्तर में 'नट' धातु का अर्थ अधिक व्यापक बन गया और 'नृत्' के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ इससे सिमटता चला गया। 'सिद्धान्त कौमुदी' के तिङन्त प्रकरण में नाट्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'नट नृतो। इत्थमेवपूर्वमपि पठितम्।

तत्रांगविक्षेपः। पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिण नटव्यपदेशः।' इससे यह निष्कर्ष निकला है कि 'नट' धातु का अर्थ गात्रविक्षेपण एवं अभिनय दोनों ही था, किन्तु कालान्तर में 'नृत्' धातु का प्रयोग गात्र विक्षेपण के अर्थ में होने लगा और 'नट' का प्रयोग अभिनय के अर्थ में। दशरूपककार ने नृत्त, नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त ताल-लय के आश्रित होता है- 'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम् नृत्तं ताललयाश्रयम्। अवस्थानुकृतिः नाट्यम्, दशेधव रसाश्रयम्।'⁶⁷ इस प्रकार गम्भीरता से विचार करने पर नृत्त और नृत्य नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकायें होती हैं।

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में लोकचित्त को नाटक की वास्तविक प्रेरणा भूमि और कसौटी कहा है। नाट्य प्रयोग में लोक को ही सबसे बड़ा प्रमाण मानते हुए उन्होंने कहा है कि नाटक चाहे वेद हो या अध्यात्म से उत्पन्न हो, तो भी वह तभी सिद्ध होता है, जब वह लोकसिद्ध हो, क्योंकि नाट्य लोक स्वभाव से उत्पन्न होता है—

वेदाध्यात्मोपन्नं तु शब्दच्छन्दः समन्वितम्।
लोक सिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्य लोक स्वाभावजम् ॥
तस्मात् नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यतः।⁶⁸

यही नहीं उन्होंने यहाँ कहा है कि जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प और जो क्रियाएँ लोकधर्म प्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कही जाती हैं—

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रिया।
लोकधर्म प्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥

इसलिए लोक प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी है।⁶⁹ लोक और नाट्य इन दोनों शब्दों की व्याख्या समझ लेने के बाद इसे परिभाषित करना आसान हो जाएगा। लोक नाट्य की सर्वमान्य पूर्वनिर्धारित परिभाषा न होने के कारण हमें उसके निर्धारण के लिए निम्न तीन स्रोतों की तरफ जाना वांछनीय होगा— कोषगत व्याख्या, विद्वानों के मत और लोक धारणाएँ।

(क) कोषगत व्याख्या

हिन्दी साहित्य कोष में लोकनाट्य की उत्पत्ति लोक-विश्वास, लोक-प्रचलन, धार्मिक रूढ़ियाँ, जनपरम्पराएँ, वीरपूजा, मनोरंजन, उत्सव, मांगलिक पर्व तथा शोक के अवसरों आदि धारणाओं के बीच मानी गयी है। संस्कृत के अनेक उपरूपक तथा रूपकों में डिम, प्रहसन, भाँड़, हल्लीसक, रासक, लास्य, वीथी, नर्तनक, रामाक्रीड आदि लोकनाट्यों के ही परिष्कृत रूप हैं। हल्लीसक, रास तथा

नर्तनक के लोकनाट्य के रूप में अभिनीत होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लोक से सम्बन्धित उत्सवों, अवसरों, मांगलिक पर्वों तथा कार्यों पर इनका अभिनय आवश्यक माना जाता है। इनके लिए उत्कृष्ट कोटि के रंगमंच तथा आकर्षक एवं बहुमूल्य साज-सज्जा की आवश्यकता नहीं पड़ती।⁷⁰

आक्सफोर्ड कम्पेनियमन ऑफ ड्रामा के अनुसार फोक-प्ले या लोकनाटक ऐसा नाट्य मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवों पर ग्रामवासियों द्वारा स्वयं प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) विद्वानों के मत

सर्वप्रथम डॉ० श्याम परमार के द्वारा निर्धारित परिभाषा प्रस्तुत है— 'लोकनाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिनका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जन-समुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो।'⁷¹ डॉ० श्याम परमार के परिभाषा की आलोचना राजस्थानी लोकनाट्यों पर शोध करने वाले अधिकारी विद्वान डॉ० महेन्द्र भानावत ने की है। उनका कहना है कि डॉ० श्याम परमार ने अपनी लोकनाट्य की परिभाषा में नाट्य की सीधी परिभाषा न कर उसके सम्बन्ध और स्वरूप का उल्लेख मात्र कर दिया है, इस दृष्टि से उनकी भी परिभाषा अधूरी है। इस तर्क के बाद डॉ० भानावत ने लोकनाट्य की परिभाषा इस प्रकार की है— 'लोकधर्मी रूढ़ियों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्तियों का वह नाट्य रूप जो अपने-अपने क्षेत्र के लोकमानस को आह्लादित एवं अनुप्राणित करता है, लोकनाट्य कहलाता है।'⁷²

लोकनाट्य की परिभाषा डॉ० दशरथ ओझा ने इस प्रकार दी है— 'जन नाटक से हमारा तात्पर्य उन नाटकों से है जिनके अभिनय के लिए रंगमंच और प्रसाधन की विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती। सामान्य शिक्षित व्यक्ति ग्रामीणों के लिए जिन नाटकों का अभिनय करते हैं, वे लोकनाट्य कहलाते हैं। इन नाटकों का अभिनय कीर्तनियाँ, विदेसिया, स्वांग, रास, भवाई, लड़ित, तमाशा, नौटंकी, कुचपुड़ि, लेहोरावा आदि प्रसिद्ध है।'⁷³

(ग) लोक धारणाएँ

लोक जीवन में लोकनाट्य का अर्थ उन अनुरंजनों से लिया जाता है, जो आनन्द एवं उल्लास के अवसरों पर सामूहिक अभिव्यक्ति का सहज अनुकरण होता है।

ये नाट्य सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं से निर्मित होते हैं। लोक-प्रचलित परम्परागत रूढ़ियों, धार्मिक अनुष्ठानों, कथा-आख्यानों तथा वार्ता-विश्वासों की सफलता इन नाट्यों की मूल पीठिका होती है।⁷⁴

उपरोक्त विद्वानों के द्वारा दी गयी परिभाषाओं से निष्कर्ष यही निकलता है कि वही नाट्य लोकनाट्य कहलाता है, जो लोकमानस से उत्पन्न होकर लोकचित्त में रमता हुआ लोकधर्म के निर्वाह के साथ लोकसिद्धि को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कह सकते हैं कि लोकनाट्य से हमारा तात्पर्य उन नाटकों से है जिनके अभिनय के लिए रंगमंच और प्रसाधन की तैयारी नहीं करनी पड़ती। इनमें संगीत प्रधान होता है। लोकनाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक-कथानकों, लोक-विश्वासों और लोकतत्त्वों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है और स्पष्ट रूप में कहना चाहें तो कहा जा सकता है कि जिस नाट्य से जनता का निःशुल्क, खुला, निर्वाध मनोरंजन हो, वही लोकनाट्य है, जिसमें उसकी कामवृत्ति की तृप्ति कराने से लेकर उदात्त भावों के उद्बोधन तक की सामग्री आ सकती है। मुख्य बात है लोकरुचि की तृप्ति, उनके द्वारा समझी जा सकने वाली भाषा में।

लोकनाट्य और लोकनृत्य

लोक-जीवन में प्रचलित कुछ लोकनृत्यों को भी भ्रमवश कुछ लोगों ने लोकनाट्य ही माना है, किन्तु दोनों में अन्तर है। इस स्थल पर इन दोनों के अन्तर को समझना आवश्यक होगा। उल्लास की अवस्था में मनुष्य का मन-मयूर हर्ष-विभोर होकर अपने आनन्द की सहज अभिव्यक्ति के लिए जो भाव-भंगिमा और अंग-संचालन प्रदर्शित करता है, उसे हम नृत्य कहते हैं। इसकी परम्परा बड़ी पुरानी है। नृत्य अत्यन्त आदिम काल से ही मनुष्य के उल्लास का निर्देशक रहा है। बहुत काल बाद मनुष्य के इन अनियंत्रित भावनाओं को सीमा में बांधा गया और एक कला का रूप प्रदान किया गया, जिससे इसे नृत्यकला की संज्ञा दी गयी। किन्तु जो लोग शास्त्रीय पद्धति नहीं जानते, वे भी विभिन्न भाव-भंगिमाओं एवं शारीरिक मुद्राओं से अपना मन-बहलाव करते रहते हैं। लोक में प्रचलित इन्हीं भाव-भंगिमाओं एवं शारीरिक चेष्टाओं को लोकनृत्य कहते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का मत अधिक समीचीन है। उनका कहना है— 'होली या अन्य पर्वों के अवसर पर, फसल कटने के समय, विशेष आयोजनों पर, देवपूजा आदि उत्सवों पर, विशेष समारोहों की घड़ी उपस्थित होने पर गाँव के लोग नृत्य आदि करके अपने मन का जो उल्लास प्रकट करते हैं, उसे लोकनृत्य कहते हैं।'⁷⁵

डॉ० सत्येन्द्र जी ने लोकनृत्य के विषय में मत प्रकट करते हुए लिखा है कि 'लोकनृत्य का जन्म तीन वासनाओं की प्रक्रियाओं से हुआ है— आकर्षक को उपलब्ध कराने की चेष्टा से, अनाकर्षक से बचने की चेष्टा से तथा इन चेष्टाओं के लिए टोने के रूप में प्रत्येक नृत्य में किसी न किसी प्रकार के टोना संकेत से। मेघ वर्षा के लिए नृत्य किये जाते हैं। अतिवर्षा हो तो उसे रोकने के लिए भी नृत्य विधान रहता है। देवी—देवता को प्रसन्न करने के लिए नृत्य होते हैं। देवता का शरीर में आहवान करने के लिए नृत्य होते हैं। फसल अच्छी हो इसलिए नृत्य होते हैं। टोने के नृत्य के साथ ही कोई न कोई टोटका या अनुष्ठान भी लगा रहता है। विवाह के अवसर पर भी आनुष्ठानिक नृत्य का विधान रहता है। शास्त्रीय नृत्य का मूल लोक—नृत्य में रहता है। लोकनृत्य की उद्यमता को अनुशासित करके और उसे ऐसे सिद्धान्तों में बाँधकर प्रस्तुत किया जाता है, जो उस आवेग को अभिप्राय की दृष्टि से सौन्दर्य उपलब्धि के एक स्तर पर दृढ़ कर देते हैं। लोकनृत्य किसी कृत्रिम सिद्धान्त की सीमाएँ नहीं स्वीकार करता। लोकनृत्यों का विषय जीवनचक्र ही होता है। यौन संकेत, कृषि तथा संततिवृद्धि, भूत—प्रेत निवारण, जादू—टोना, ऋतु आहवान, विवाह, जन्म—मृत्यु ये सभी किसी न किसी रूप में संकेत मुद्राओं अथवा प्रतीक अभिप्रायों से नृत्यों द्वारा प्रकट होते रहते हैं।

साधारणतः लोकनृत्य सामूहिक होते हैं, पर व्यक्तिनिष्ठ भी हो सकते हैं। जीवन और प्रकृति से घनिष्ठतः सम्बन्धित होने के कारण लोकनृत्यों का रूप किसी वर्ग के अपने व्यवसाय के अनुकूल हो जाता है। कृषकों का नृत्य पशुपालकों से भिन्न हो जाता है और अहेरियों का कुछ और ही होगा।⁷⁶

लोकगीत जहाँ व्यक्ति विशेष के द्वारा भावात्मक क्षण में गुणगुनाहट के रूप में उद्भूत होकर कालान्तर में अपनी लोकप्रियता के कारण सामाजिक स्वरूप प्रकट करके निर्मित होता है, वहीं लोकनृत्य पर व्यक्ति की छाप न होकर सम्पूर्ण समाज की छाप रहती है। स्पष्ट है लोकनृत्य व्यक्ति की देन न होकर समाज की देन है, क्योंकि अधिकतर ये सामूहिक ही होते हैं। प्रायः दो या दो से अधिक लोग ही नृत्य करते हैं और समाज के लिए ही करते हैं। लोक—जीवन में प्रत्येक पर्व, समारोह और नाना संस्कारों पर नृत्य होना अनिवार्य होता है।

जैसे—जैसे नृत्य अपनी आदिम अवस्था से निकलकर आज के सुसंस्कृत समाज का श्रृंगार बनने लगा, वैसे—वैसे उसके साथ गीत, नाटक आदि भी जुड़ने लगे और व्यवस्थित नृत्य नाट्य तथा गीतिनाट्य का भी प्रादुर्भाव होने लगा, फिर भी नृत्य नाट्य से भिन्न है। नाट्य रसाश्रित है, नृत्य भावाश्रित— इसलिए इन दोनों में विषय भेद है।

नृत्य शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'गात्र विक्षेप'। जिसका अभिप्राय है आंगिक अभिनय की बहुलता, जबकि नाट्य में चारों तरह के अभिनय पाये जाते हैं। साथ ही नृत्य करने वालों को नर्तक या नर्तकी कहते हैं, नट या नटी नहीं। नृत्य केवल देखने भर की चीज है, वहाँ श्रवणीय कुछ नहीं होता, कथोपकथन का वहाँ अभाव रहता है, इसलिए नाट्य-नृत्य से भिन्न वस्तु है। जब लोकमानस अपने हर्षोद्गार को नृत्य और गीत के माध्यम से व्यक्त करने में प्रवीण हो गया, तब नृत्य और गीत के साथ नाट्य की कल्पना साकार हुई। नाट्य कभी भी स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुआ। जब मनुष्य को अपने वीर पुरुषों एवं चमत्कारिक लोगों के क्रिया-कलापों के अनुकरण की आवश्यकता महसूस हुई, तो उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर गीत रचकर उनके साथ उपयुक्त नृत्य मुद्रायें जोड़ दी गयीं। ऐसे नृत्य-नाट्य सामाजिक रूप से प्रस्तुत होते थे, जिनमें कथात्मक गीत प्रधान तथा नृत्य-संचालन गौड़ होता था।

नृत्यों के विकास के इसी स्तर पर ही गीति-नाट्यों की परम्परा प्रस्फुटित हुई, जिनमें स्त्री-पुरुष पारस्परिक गीत-संवादों में प्रवृत्त होते थे। स्त्रियाँ गीतों में प्रश्न करती थीं और पुरुष उनका गीतों में ही जवाब देते थे। ये नृत्य-नाट्य बहुधा श्रृंगारिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित रहते थे। इन गीत संवादों में यद्यपि गीतों की ही प्रधानता रहती थी, परन्तु नृत्य मुद्राओं का भी विविध अनौपचारिक अंग भंगिमाओं में प्रस्फुटन होता था। मानवीय विकास के सैकड़ों वर्ष तक इसी तरह नृत्य-गीत आदि विकसित होते रहे और उनके नाना रूप लोकजीवन में प्रसारित होते रहे। मध्यकाल में सूर और तुलसी के वरेण्य ग्रन्थ क्रमशः सूरसागर और रामचरित-मानस के प्रभाव से रामलीला और रासलीला जैसी लोकनृत्य नाट्य की शैलियाँ इसी श्रृंखला की कड़ी के रूप में हैं। मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव के कारण जब नाट्य कला पर धार्मिक निषेध पड़ गया, तो नृत्य-नाट्य, गीति-नाट्य और लोक-नृत्य उत्तर भारत के कुछ छोटी जातियों में ही सीमित रह गया। भोजपुरी क्षेत्र में ऐसी बहुत सी छोटी जातियाँ हैं, जिनके अपने लोकनृत्य हैं। उन लोकनृत्यों में कहीं तो गीतों की प्रधानता है, कहीं वार्ता की प्रधानता है, कहीं भाव-प्रदर्शन की प्रधानता है और कहीं स्वांग धरने की प्रधानता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गीत-नाट्य, नृत्य-नाट्य और लोकनृत्य ये सभी एक ही वस्तु के पर्याय हैं।

लोकनाट्य गीत, नृत्य और अभिनय का मिला-जुला रूप होता है। किसी लोकनाट्य में गीत की प्रधानता हो सकती है, किसी में नृत्य की और किसी में अभिनय की। लोकनाट्यों में अधिकांशतः नृत्यों की प्रधानता होती है, इसलिए इन्हें कहीं-कहीं नाच भी कहते हैं। भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित गोड़ों, धोबियों, नटों, पँवरियों के प्रहसनात्मक नृत्यों को इसीलिए क्रमशः गोड़ऊ नाच, धोबिया नाच, नटुआ नाच कहते हैं। संभवतः नृत्य

और अभिनय के इसी मिले-जुले रूप के कारण आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने लोक-नृत्य और लोक-नाट्य को समन्वित रूप में माना है।⁷⁷

लोक-नृत्य में रूप और ताल की बहुसंख्यक परिपाटियाँ हैं। इनमें कहीं-कहीं नाटकीय अंश भी रहता है। जिस लोकनृत्य में नाटकीय अंश मिल जाएगा, उसे लोकनाट्य ही कहेंगे, लोकनृत्य नहीं। हालांकि श्री बलवन्त गार्गी ने अपनी पुस्तक 'रंगमंच' में लोकनृत्य शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत दस लोकनाट्यों का परिचय दिया है। दशावतार महाराष्ट्र का एक प्रचलित लोकनाट्य है, जिसका प्रचार गोवा तक है। इसके सम्बन्ध में लोकनृत्य शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत गार्गी जी लिखते हैं— 'एक और नाँच जिसमें कुछ नाटकीय अंश है, दशावतार है। इसमें सूत्रधार आता है। नाचने वाले पौराणिक योद्धाओं के मुकुट-मुखौटे लगाते हैं। कथाकार दृश्य को गाकर वर्णन करता है और कुशल अभिनेता इसको नृत्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इसमें मुद्राओं, मूक अभिनय, गीत तथा नृत्य का सुयोग होता है। इसके द्वारा विष्णु के दसों रूपों को प्रदर्शित किया जाता है।'⁷⁸ गार्गी जी के इस कथन के मूल में जो भी तर्क हों, किन्तु इसमें दो मत नहीं हो सकते कि जिस लोकनृत्य में नाटकीय अंश आ जाएगा, वह लोकनाट्य ही कहलाएगा, भले ही उसके आगे नाँच शब्द क्यों न लगा हो।

वास्तव में लोकनाट्य का मूल आधार तो नृत्य ही होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० दशरथ ओझा का कथन अधिक संगत है— 'भारत ही नहीं विश्व के विविध भागों में लोकनाट्य को नृत्य पर अवलम्बित माना जाता है। प्रमाण यह है कि जापान का 'नोड्रामा' वहाँ के ता-माई नामक नृत्य का विकसित रूप है। यह नृत्य धान की फसल पकते समय कृषक हृदय के उल्लास को अभिव्यक्त करता था, जो कालान्तर में 'नोड्रामा' नाम से विख्यात हुआ। यूनान में फसल काटते समय का विशेष प्रकार का नृत्य प्रचलित था, जिसे 'दि सेक्रेड थ्रसिंग फ्लोर ऑफ डिप्टोगमस' कहते थे, जिसने समय पाकर नाटक का रूप धारण किया।'⁷⁹

डॉ० कीथ का मत है कि 'भारतवर्ष में वैदिक यज्ञों के अवसर पर होने वाला लोकनृत्य मन्दिरों का आश्रय पाकर यात्रा नाटक, रासनाटक, भरत-नाट्य आदि में विकसित हो गया।'

इस तरह स्पष्ट है कि लोकनाट्य के मूल में लोकनृत्य की धारा चिरकाल से ही प्रवाहित होती रही है। भारतवर्ष तो गाँवों का देश है। यहाँ का लोकजीवन नील-वितान के नीचे प्रकृति के खुले प्रांगण में उन्मुक्त भाव से जीता है। उसके जीवन में होली, दीवाली, शिवरात्रि, जन्माष्टमी, दशहरा आदि पर्व आते हैं, तो लोकजीवन के हृदय से हर्ष,

आनन्द, संगीत, नृत्य की मधुर झंकार के साथ फूट पड़ते हैं। इनके नृत्यों में आडम्बर नहीं प्रकृति का पहनावा है। सारे भारत में वर्षा न होने पर इन्द्र की आराधना करने, अनाज पकने पर खुशी जाहिर करने, पुत्र उत्पत्ति पर उछाह व्यक्त करने एवं विवाह इत्यादि मांगलिक अवसरों पर झूम-झूमकर नाचने की परम्परा है। इन नृत्यों के साथ गीत की कड़ियाँ भी पलती रहती हैं। जब इस गीत और नृत्य के साथ अभिनय एवं स्वांग भी सम्मिलित हो जाता है, तभी लोकनाट्य जन्म लेता है। इस तरह लोकनाट्य और लोकनृत्य के बीच कोई स्पष्ट भेदक रेखा तो नहीं खींची जा सकती, लेकिन फिर भी दोनों अलग-अलग चीज हैं।

लोकधर्मी नाट्य एवं साहित्यिक नाटक में अन्तर

भारतीय नाट्यकला एवं रंगमंच का इतिहास हमें यह इंगित करता है कि प्राचीन नाटक का उद्भव लोकनाट्य के ही रूप में हुआ था। कालान्तर में जब लोकनाटकीय विधाओं को शास्त्रीय बन्ध से जकड़ दिया गया, तभी साहित्यिक नाटक प्रादुर्भूत हुए। व्याकरण एवं साहित्य के आचार्य लोक में प्रचलित नाटक के नाना रूपों को अपरिपक्व एवं कुत्सित समझकर जब इसे शास्त्रीय बन्धनों में जकड़ने लगे, तो ये नाटक एक सीमित परिवेश में बँधे-बँधाये ढंग से कुछ विशेष लोगों के लिए ही प्रस्तुत होते थे। दूसरी ओर लोकमानस चुप कैसे बैठता। उसने अपने अनुरंजन के लिए अपनी पुरानी धारा को स्वीकार की। शास्त्रीय बन्धन एवं नियम को उसने रंचमात्र भी स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के नाट्य रूपों में मुख्य अन्तर है— शास्त्रीय बन्धनों एवं नियमों में बँधने और न बँधने का। यह तो स्पष्ट ही है कि लोकधर्मी नाट्य बिना किसी साज-सज्जा के, बिना किसी शास्त्रीय नियम में आबद्ध हुए कहीं भी किसी भी समय प्रस्तुत हो सकता है, दूसरी ओर शास्त्रीय या साहित्यिक नाटक लोकमानस की कृति न होकर एक व्यक्ति विशेष की कृति होती है, और शास्त्रीय नियमों से लगभग आबद्ध होता है। इस सम्बन्ध में लोकमंच एवं साहित्यिक नाटक के कुशल अध्येता, रंगकर्मी एवं समीक्षक श्री जगदीशचन्द्र माथुर का निम्न कथन द्रष्टव्य है— लोक रंगमंच और नागरिक अथवा साहित्यिक रंगमंच में मुख्य अन्तर यह है कि लोक रंगमंच जनसाधारण, विशेषतः देहाती जनता के दैनिक जीवन की एक प्रक्रिया का अंग रहा है और सामाजिक उद्देश्यों का एक माध्यम, नागरिक रंगमंच वर्ग विशेष के लोगों के मनोरंजन का साधन, उनकी फुरसत के क्षणों का मन-बहलाव। दूसरे शब्दों में लोक रंगमंच लोक समाज की देह का अंग है, नागरिक या साहित्यिक रंगमंच उसका बाहरी आभूषण, लोकनाट्य जीवन के उमंग की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है, नागरिक रंगमंच कलात्मक और चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति। इसलिए लोक रंगमंच सदा रहा है और रहेगा भी, किन्तु नागरिक

एवं साहित्यिक रंगमंच राजाओं और धनिक वर्ग के आश्रय अथवा व्यावसायिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है और तदनुसार ही जीवित अथवा विलुप्त होता रहा है।⁸⁰

इन दोनों प्रकार की नाट्य विधाओं का और पारस्परिक अन्तर दोनों के प्रमुख तत्त्वों के आधार पर किया जा सकता है। लोकनाट्य का तंत्र साहित्यिक नाटक के तंत्र से पृथक होता है। डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है— 'लोकनाट्यों में पंच संधियों, कार्य अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों, सन्ध्यन्तरों आदि को ढूँढने के लिए सिर खपाना व्यर्थ है। लोककवि कथावस्तु की रचना में एक के उपरान्त दूसरी घटना को अव्यवस्थित ढंग से जोड़ते जाते हैं। रंगमंच पर पट-परिवर्तन और दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ संकलनत्रय की अपेक्षा नहीं।'⁸¹ नाट्यशास्त्र के आचार्य भरतमुनि के अनुसार— साहित्यिक नाटक में वस्तु, नेता और रस की शास्त्रीय ढंग से मीमांसा की जाती है। इसके अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व है— अभिनय का जिसके अनेक प्रकारों की वांछा साहित्यिक या शिष्ट नाटक में की जाती है। ऐसी बात नहीं है कि लोकनाट्यों में इन तत्त्वों की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है। लोकनाट्य और तथाकथित शिष्ट नाट्य साहित्य में भावगत एवं तंत्रगत अन्तर है। इस अन्तर का मूल कारण है कि लोकनाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक-कथानकों, लोक-विचारों और लोकतंत्रों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत शिष्टजनों का नाट्य साहित्य व्यक्ति की आवश्यकताओं और प्रेरणाओं का परिणाम होता है। लोकनाटक सदा विकासोन्मुख होने के कारण समसामयिकता का ध्यान रखता है, उसमें परम्परा के साथ-साथ सामयिक प्रेरणा का निर्वाह होता है। वह पूरे समाज के जीवन चरित्र, स्वभाव, विचार आदर्श आदि को चित्रित करने, अभिव्यक्त करने, रूपरंग देने में समर्थ होता है। इसके प्रतिकूल जब-जब शिष्ट नाट्यकार के सिद्धान्तों के परिपालन में संलग्न हो जाता है तो वह पिटी-पिटाई लकीर पर चलता रहता है और उसका साहित्य जनजीवन को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता। लोकनाट्यों में प्रौढ़ता एवं गांभीर्य भले ही न हो, पर उसमें स्वाभाविकता और सरलता है, स्पष्टता और मधुरता है, इन नाटकों के प्रतीकों में नवीनता और सुन्दरता है। तात्पर्य यह है कि लोकनाट्य में सामुदायिक जीवन से मर्यादा के साथ सजीवता, सजगता, आस्था, विश्वास और सत्यनिष्ठा है, किन्तु शिष्ट नाटकों में वैयक्तिक अनुभूति के साथ व्यक्तिगत मर्यादा, समस्याओं की गम्भीरता, विचारों की सूक्ष्मता है।⁸²

लोकनाट्यों में शिष्ट नाटकों की ये उपर्युक्त शर्तें अपने ढंग से प्रस्तुत होती ही हैं, साथ ही लोकनाट्यों में प्रधान भूमिका नृत्य की रहती है, जबकि शिष्ट नाटक में

इसकी कोई विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती। इसी प्रकार लोकनाट्यों में लोकगीत, मुखौटे, विविध प्रकार के वाद्य आदि की भी प्रधानता रहती है, जबकि शिष्ट नाटकों के लिए ये चीजें आवश्यक नहीं मानी जाती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि लोकनाटकों में अभिनय करने वालों के लिए किसी विशिष्ट प्रकार की प्रवीणता या प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती, न तो पूर्वाभ्यास की ही आवश्यकता रहती है और न पर्दे के पीछे से बताने की ही। नाटक का सारा अंश हर पात्र को कंठस्थ रहता है, इसलिए नाटक का कोई भी व्यक्ति किसी भी पात्र की अनुपस्थिति की पूर्ति के लिए तत्पर रहता है। इन लोकनाटकों के सामाजिक तत्त्व इतने प्रबल होते हैं कि दर्शक और प्रदर्शक प्रायः एक ही भावना रखते हैं। प्रत्येक दर्शक के मन में नाटक के प्रति अपनत्व की भावना दीख पड़ती है, जबकि वहीं साहित्यिक नाटकों के मंचन के समय दर्शक और प्रदर्शक के बीच में एक विशेष भावात्मक दूरी बनी रहती है। साहित्यिक नाटकों की भाषा भी परिनिष्ठित होती है, जिसको समझने में जनसामान्य को थोड़ी कठिनाई हो सकती है। लोकनाट्य अपनी क्षेत्रीय बोली में प्रस्तुत किये जाते हैं, इसलिए इनके साथ भाषा सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न होती है।

साहित्यिक नाटकों के रंगमंच की योजना भी बड़ी जटिल होती है। जिसके लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था होनी चाहिए और कुशल कलाविद् एवं रंगमंचीय साज-सज्जा के विशेषज्ञ ही इन्हें प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रकाश आदि की भी वैज्ञानिक व्यवस्था इन नाटकों के अन्तर्गत होती है। साहित्यिक नाटक एवं शास्त्रीय विधि-विधान केवल आजकल ही नहीं हैं, अपितु आज से कई सौ वर्ष पूर्व सरगुजा रियासत की गुफाओं में जो प्रेक्षालयों के ध्वंसावशेष मिलते हैं, उनमें विकृष्ट, चतुरस्रा और त्रयस्त तीन प्रकार के प्रेक्षालयों की कल्पना साकार हुई है। इन प्रेक्षालयों की योजना भी विभिन्न सामाजिक स्तर के दर्शकों के बैठने के लिए बनाई गई थी, इतना ही नहीं विकृष्ट प्रेक्षालय तो केवल देवताओं तथा शासकों के लिए ही था। चतुरस्र प्रेक्षालय मध्यम श्रेणी के दर्शकों के लिए था। इन प्रेक्षालयों में उच्च कोटि की चित्रकारी होती थी। प्रकाश आदि के लिए भी अत्यन्त वैज्ञानिक व्यवस्था थी। पोशाक घर, रंगमंच तथा प्रेक्षालय की सजावट भी नाट्योक्ति ढंग से होती थी। उनमें प्रवेश पाने के लिए भी विशेष सामाजिक स्तर की आवश्यकता थी। इन्हीं तकनीकी और सामाजिक कठिनाइयों के कारण ही शास्त्रीय नाटकों से लोक-नाट्यों का विलगाव हुआ, लेकिन इस अलगाव का तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि लोकधर्मी नाटकों में रंचमात्र भी शास्त्रीय तत्त्वों का आभास नहीं मिलता है। भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में प्रस्तुत किये जाने वाले लोकनाट्यों की ओर जब हम देखते हैं तो हमें यह देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि गाँव की अशिक्षित जनता द्वारा

अभिनीत किये जाने वाले इन लोकधर्मी नाट्यों में भी शास्त्रीय नाटकों के तत्त्व यत्र-तत्र विद्यमान हैं। उदाहरण के रूप में हम उत्तर भारत में मंचित होने वाले प्रमुख लोकनाट्य रासलीला को ले सकते हैं।

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में अभिनीत होने वाली रासलीला अपनी नर्तन शैली एवं प्रस्तुतीकरण में पूर्णतः पारम्परिक धारणाओं का प्रतिपालन करती है। उनके पात्र एवं स्वरूप उच्चवर्णीय होने आवश्यक होते हैं। ब्राह्मण के सिवाय अन्य तीन वर्णीय पात्रों को अभिनेता बनने का अधिकार नहीं होता। स्वयं रास को धारण करने वाला रासधारी भी ब्राह्मण ही होता है और उसी के परिवार के पास समस्त रासलीला परम्परा-पुष्ट एवं शास्त्रीय विधान संयुक्त नाट्य शैली में होते हुए भी अपने प्रस्तुतीकरण में शत-प्रतिशत लोकधर्मी है, इसलिए यह लोकनाट्य ही है, साहित्यिक नाटक नहीं। इसी प्रकार असम का अंकिया नाटक मन्दिरों के भावना घरों में विधि-विधान से अभिनीत होता है, फिर भी हर पर्व, उत्सव, त्योहार पर खुले मैदान में विशाल जन-समूह के सम्मुख प्रदर्शित होता है।

इस वर्णन से यही निष्कर्ष निकलता है कि लोकनाट्य और साहित्यिक नाटक के बीच में मूल्यगत और शैलीगत भेद है, फिर भी इस तथ्य को साहस के साथ कहा जा सकता है कि लोकनाटकों से साहित्यिक नाटकों को यथेष्ट बल प्राप्त हुआ है। डॉ० दशरथ ओझा ने अपने 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ में विभिन्न जनपदों में पाये जाने वाले लौकिक नाट्य रूपों का उल्लेख किया है और उनके अनुसार— 'हिन्दी नाटकों की परम्परा का मूल स्रोत यह जन-नाटक ही है, जो स्वांग आदि नाम से अपने-अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान है।'⁸³ हम भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लोकनाट्य रूपों को छोड़कर केवल उत्तर भारत के ही प्रचलित लोकनाट्यों को देखें तो यही पायेंगे कि हिन्दी साहित्य की नाट्यधारा को लौकिक नाट्य परम्परा ने पर्याप्त प्रभावित किया है। कुछ लोग आधुनिक हिन्दी साहित्य की नाट्य परम्परा को लौकिक नाट्य परम्परा से जोड़ना तर्कसंगत नहीं समझते और इन दोनों में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं मानते, परन्तु वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। साहित्यिक नाटक लोकनाट्य के ऋणी हैं और रहेंगे। डॉ० रवीन्द्र भ्रमर का भी विचार ऐसा ही है। डॉ० भ्रमर का कहना है— 'जिस प्रकार आधुनिक कथा-साहित्य की जननी लौकिक एवं निजन्धरी कहानियाँ (फोकटेल्स एण्ड लीजेण्ड्स) मानी जाती हैं और जिस प्रकार हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारे अनेक छन्द, गीत पद्धतियाँ और काव्य रूप लोकसाहित्य की देन हैं, ठीक उसी प्रकार आधुनिक नाटकों को लोकनाट्यों की परम्परा और पद्धति से अलग करके नहीं देखा जा सकता।'⁸⁴

लोकधर्मी नाट्य तत्त्व

लोक नाटक प्रत्येक देश की परम्परागत संस्कृति का अत्यन्त समृद्ध एवं गहराई तक पहुँचा हुआ अंग होता है। विभिन्न सांस्कृतिक रूपों वाले भारतवर्ष में लोक की कलात्मक अभिव्यक्ति के इस स्वरूप को विस्तृत क्षेत्र मिला है। हमारे देश के नगर और गाँवों की गली-गली में नाटक का स्वरूप देखने को मिल जाता है। 'बंजारा गा-गाकर और हॉक देकर चूड़ियाँ' बेचता है। मदारी झोला रखकर गली के नुक्कड़ पर ही डमरू और बांसुरी बजाता है और बड़े ही नाटकीय ढंग से तमाशा शुरू करता है। लोग इकट्ठे हो जाते हैं। एक छोटा सा मंच बँध जाता है। मदारी, बाजीगर, सँपेरा, बन्दर और रीछ के तमाशे वाला— सभी में एक नट और अभिनेता के गुण हैं।⁸⁵ चूँकि, ये सारी स्थितियाँ लोक के अन्तर्गत होती हैं, इसलिए इन्हें लोकधर्मी नाटक की सीमा में समेटा जा सकता है। लोकधर्मी नाटक की जड़ें प्राचीन लोक परम्परा की कड़ियों से निरन्तर जुड़ी रहती हैं, क्योंकि वह लोकजीवन में गहरी आस्था रखने के साथ-साथ अपनी जन्मदात्री भूमि की भीनी गन्ध से सदा सुवासित बना रहता है। लोककला शास्त्रीयता की मुखापेक्षी नहीं होती, वह लोक-जीवन की गरिमा से अनुप्राणित होती है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि लोकनाट्यों की प्राणवायु लोकजीवन के परम्परागत रजकणों से ही स्पन्दन ग्रहण करती है और इसीलिए लोकनाट्य लोकमानसीय तत्त्वों से संपृक्त रहते हैं। ये लोकनाटक लोकमानस की अनुकरणमूलक प्रवृत्तियों, कल्पनाओं और क्रियात्मक अभिव्यक्तियों के सहज प्रतिरूप हैं। अभिनय के अनगढ़ स्वरूप और वाणी के स्वाभाविक प्रवाह में परम्परा से पोषित आस्था के दर्शन होते हैं। लोकवार्तागत विश्वास, आनुष्ठानिक एवं लौकिक पूजा-अर्चना, समाज की वर्गगत भावनाओं की रूढ़ व्यंजना, प्रचलित आख्यानों, कथानकों और सामूहिक नृत्य-गीतों में उपलब्ध उत्साह और उमंग तथा बधी-बँधायी वाक्शैली में यह नाट्य विधा विकसित हुई है। भाँड़, नट और नक्कालों द्वारा लोकजीवन के विविध पक्ष कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। मनोरंजन का थोड़ा भी अवसर मिला नहीं कि लोकबुद्धि अनुकरणात्मक प्रवृत्तियों के मनोनुकूल साधन ढूँढ़ लेती है। निःसन्देह लोकजीवन की रसात्मक भावधारा ही लोकनाटकों का मूल उत्स है, इसलिए इनके अध्ययन में हमें उस मूल बिन्दु को खोजना होगा, जिसके कारण इनकी अविच्छिन्न धारा सैकड़ों वर्षों से जनमानस को अनुरंजित करती चली आ रही है। इनके अध्ययन के सन्दर्भ में डॉ० सत्येन्द्र का भी ऐसा ही सुझाव है। उनका कहना है— 'लोक-नाट्य सम्बन्धी सामग्री को एकत्र कर उसके विश्लेषणपूर्वक अध्ययन में न केवल वस्तुकथा आदि के स्रोतों की छानबीन ही अपेक्षित है, वरन् उन तत्त्वों का अनुसंधान भी अपेक्षित है, जिनसे इनमें वह लोकप्रियता आती है कि हजारों मनुष्य बिना ऊबे सुनते रहते हैं।'⁸⁶

लोकजीवन के विविध खेल-तमाशों की कोटि में लोकनाट्यों का स्थान किंचित सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अवकाश और आनन्द के क्षण में अत्यन्त सहज और आकर्षक ढंग से इनका प्रदर्शन किया जाता है और इनमें लोकमानस के मनःप्राण को अनुरंजित करने की ऐसी जीवन शक्ति होती है कि ग्रामीणजन सारी-सारी रात जागकर इनके आनन्द में डूबे रहते हैं। लोकधर्मी नाटकों का यह शाश्वत और जीवन्त पक्ष है। यह स्थिति भारत ही नहीं बल्कि विश्व के सभी देशों में समान रूप से मिलती है। चीन देश में- 'प्रत्येक वर्ष फसल कट जाने के बाद या नूतन वर्षाभिन्नन्दन और अन्य पर्वोत्सवों के अवसर पर ग्रामीणजन अपनी स्थानीय रंगशाला या किसी अन्य परम्परागत स्थान पर एकत्रित होते हैं और वे नाटक का आनन्द लेते हैं। इन नाटकों का विषय क्या है, अतीत के लोकरक्षक वीरों की अमरगाथायें, पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम प्रदर्शन और आज्ञा-पालन, बच्चों का पालन-पोषण, सहज प्रेम की विविध सुखान्त एवं दुखान्त लौकिक निजन्धरी कथा-कहानियाँ आदि इनका अभिनय या तो स्वयं ग्रामीणों द्वारा या स्थानीय अभिनेताओं द्वारा होता है। इन्हीं लोकनाट्यों के बीच से चीन की आधुनिक अभिजात नाट्यकला का जन्म हुआ है।⁸⁷ चीन की ही भाँति हमारे देश में हर्ष को व्यक्त करने के लिए नृत्य की परम्परा प्राचीनकाल से रही है। वेदों तक में इसका उल्लेख है। यजुर्वेद और सूत्रों में ऐसे नृत्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें आठ दासी कन्यायें सिर पर जल के घड़े रखकर वाद्य संगीत के साथ "माजीली" गीत गाती हुई घूम-घूमकर नाचती थीं। हमारे देश में नृत्यकला इतनी विकसित हुई कि इसने नैतिकता के पक्षपातियों को भक्ति-परम्परा के द्वारा और भौतिकतावादियों को लौकिक श्रृंगार के रसास्वादन से संतुष्ट कर दिया। प्रथम वर्ग मन्दिरों और मठों में नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार भगवान की लीलाओं को नृत्य-नाटकों के रूप में देखता रहा, दूसरा ग्रामीण वर्ग शास्त्रीय नियमों से मुक्त रहकर अपनी मौलिकता के बल से नृत्य को संगीत रूप में विकसित करता रहा।

जिस प्रकार शिष्ट साहित्य की संरचना करने वाला रचनाकार जानबूझकर अपनी रचना में अलंकार, रीति, वृत्ति, छन्द, रस आदि का उपयोग करता है और अपनी अनुभूति द्वारा उसे प्रकट करता है, वैसे ही अनजान में और जान में वह लोकतत्त्वों का भी उपयोग अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए करता है। यही कारण है कि तुलसी, सूर, जायसी, कालिदास और शेक्सपीयर जैसे महान साहित्यिकों की रचनाओं में भी लोकतत्त्व उपलब्ध है, दूसरी ओर लोकनाट्यों का स्रष्टा व्यक्ति विशेष न होकर सम्पूर्ण लोक होता है। यदि व्यक्ति विशेष की रचना होती भी है तो लोक के मंच पर आने से व्यक्ति खो जाता है और वह रचना सम्पूर्ण समाज की होती है। ऐसे लोकनाट्यों में

लोकमानसीय तत्त्वों की बहुलता का होना स्वाभाविक है। कथावस्तु, अभिनय, पात्र, वातावरण, उद्देश्य आदि तत्व जो साहित्यिक नाटकों के लिए वांछनीय शर्त हैं, लोकधर्मी नाटकों में हो भी सकते हैं और नहीं भी। इन तत्त्वों के अभाव में कभी लोकनाटक जनता द्वारा उपेक्षित नहीं किया जाता है। कारण यह है कि इन लोकधर्मी नाट्यों में कुछ ऐसी बातें परम्परा से घुली-मिली रहती हैं, जिनकी जड़ें लोकमानस के साथ बद्धमूल हैं। हर्ष और विषाद की अभिव्यक्ति, पौराणिक, ऐतिहासिक या समसामयिक काल्पनिक प्रसंग, मन की दमित वांछा, लोककल्याण, जीवन की सापेक्ष अनुभूति, असत् पर सत् की विजय आदि जीवन के जीवन्त पहलुओं के साथ ही संगीत, नृत्य, वाद्य, और वाचिक चातुर्य की मनोरम झाँकी लोकनाट्यों की महत्त्वपूर्ण देन है। अभिनय को भारतीय शास्त्रीय नाटकों में रस के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। लोकधर्मी नाट्यों में यह पक्ष महत्त्वपूर्ण रूप से आता है, क्योंकि लोकनाट्य का सही आस्वादन देखने पर ही होता है, सुनने या पढ़ने पर नहीं। उसकी दर्शकीय स्थिति सही रूप में वर्णनातीत है।

सन्दर्भ

1. लिंक्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द-1, भाग-1, पृ0-06।
2. ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, पृ0-59।
3. ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज : डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी, पृ0-99।
4. उपरिवत, पृ0-92।
5. भोजपुरी भाषा और साहित्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, प्रवेशांक, पृ0-03।
6. ग्रामीण हिन्दी : डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0-25-26।
7. भोजपुरी लोकनाट्यों का ऐतिहासिक अध्ययन : डॉ0 भरत सिंह का अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ, पृ-31।
8. भोजपुरी के कवि और काव्य, संपादक का मंतव्य, दुर्गा प्रसाद सिंह, पृ0-07।
9. 'सरस्वती' पत्रिका, अक्टूबर, 1931, पृ0-435।
10. भोजपुरी लोकोक्तियाँ : डॉ0 शशिशेखर तिवारी, पृ0-26।

11. लिङ्गिस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया : सर जार्ज ग्रियर्सन, भाग-5, पृ0-3-4।
12. भोजपुरी के कवि और काव्य : श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, भूमिका, पृ0-05।
13. शाहाबाद गजेटियर : एल0 एस0 एस0 वो0 माले, पृ0-158।
14. बिहार - एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन : पृथ्वी सिंह मेहता, पृ0-173।
15. भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ0 उदयनारायण तिवारी, पृ0-05।
16. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0-17।
17. प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्शन्स ऑफ दि सिक्विस्ट्रेंथ ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फरेन्स, पटना, 1930।
18. ऐतरेय ब्राह्मण - 8, 12, 14, 17।
19. ऋग्वेद - 3/53/7।
20. भोजपुरी लोक-साहित्य - सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ0 श्रीधर मिश्र, पृ0-26।
21. भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ0 उदयनारायण तिवारी, प्रवेशांक, पृ0-05।
22. भोजपुरी साहित्य का इतिहास : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0-15।
23. लिङ्गिस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, रफ लिस्ट ऑफ लैंग्वेजेज, बंगाल लोअर प्राविन्सेज, कलकत्ता, 1898, पृ0-83।
24. भोजपुरी साहित्य का इतिहास : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0- 17।
25. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0-26।
26. लिङ्गिस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द-1, भाग-1, पृ0-149-50, कलकत्ता, 1927।
27. भोजपुरी भाषा और साहित्य, प्रवेशांक, पृ0-09-10।
28. उपरिवत, पृ0-11।
29. भोजपुरी साहित्य का इतिहास : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0-22।
30. भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ0 उदयनारायण तिवारी, प्रवेशांक, पृ0-11।
31. लिङ्गिस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग-5, खण्ड-2, पृ0-248।
32. उपरिवत, भाग-5, अंक-2, पृ0-311-324।
33. उपरिवत, जिल्द-1, भाग-1, पृ0-149।
34. भोजपुरी लोकोक्तियाँ और मुहावरे : डॉ0 मुक्तेश्वर तिवारी, पृ0-13।
35. भोजपुरी के कवि और काव्य : श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, पृ0-16।
36. भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ0 उदयनारायण तिवारी, प्रवेशांक, पृ0-09।
37. भोजपुरी ग्रामगीत : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, भूमिका, पृ0-17, भाग-1।
38. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन : डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0-22।
39. भोजपुरी लोकगाथा : डॉ0 सत्यव्रत सिन्हा, भूमिका (ढ)।
40. देखें, दीर्घनिकाय, 2/137, मञ्जिम निकाय 1/231।
41. पुनर्नवा : हजारी प्रसाद द्विवेदी।
42. लिङ्गिस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया : ग्रियर्सन, भाग-5।
43. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, सं0 देवदत्त शास्त्री, बुद्धकालीन नाटक, राहुल सांकृत्यायन, पृ0-69।
44. सिद्धान्त कौमुदी, वैकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, पृ0-417।
45. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-16, प्रस्तावना, पृ0-01।
46. हिन्दी साहित्य कोश, सं0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0-747।
47. लोक साहित्य विज्ञान : डॉ0 सत्येन्द्र, पृ0-03।
48. उपरिवत।
49. हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, 1965, पृ0-03।
50. ऋग्वेद, 3/53/12।
51. उपरिवत, 10/90/14।

52. अशोक के शिलालेख, पृ0-177, गिरिनार में (14) 'अनुवत्त रासव लोक हिताय गिरिनार कतद्वेयत हिये सर्वलोक हित', पृ0-174।
53. मालवी लोकसाहित्य, पृ0-02।
54. उपरिवत्, पृ0-01।
55. सम्मेलन पत्रिका, भाग-52, संख्या-3-4, पृ0-67।
56. हिन्दी साहित्य कोश, सं0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0-692।
57. कुमायुनी जन-साहित्य का अध्ययन (भूमिका भाग) : डॉ0 त्रिलोचन पाण्डेय।
58. जनपद (त्रैमासिक), अंक-1, पृ0-66, लोक साहित्य का अध्ययन।
59. मालवी लोकसाहित्य, पृ0-03।
60. श्रीमद्भगवतगीता 3/20।
61. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक, पृ0-65।
62. पाणिनी, 4/3/129।
63. नाट्य दर्पण गायकवाड़ औरियण्टल सीरिज, पृ0-28।
64. वृहद् हिन्दी कोष : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, पृ0-699।
65. सायण भाष्य, 4/105/23।
66. उपरिवत्, 10/8/3।
67. दशरूपक (प्रथम संस्करण) 9/7।
68. नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, 26/113।
69. भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दसरूपक : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0-25।
70. हिन्दी साहित्य कोश, सं0 डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0-751।
71. लोकधर्मी नाट्य परम्परा : डॉ0 श्याम परमार, पृ0-30-31।
72. लोकनाट्य : परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृ0-03।
73. भारतीय नाट्य साहित्य, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0-72।
74. लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ : डॉ0 महेन्द्र भानावत, पृ0-03।
75. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पृ0-711।
76. हिन्दी साहित्य कोश, सं0 डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0-690।
77. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पृ0-720।
78. रंगमंच : श्री बलवन्त गार्गी, पृ0-67।
79. भारतीय नाट्य साहित्य, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0-69।
80. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक), सं0 2010 वि0, पृ0-353।
81. भारतीय नाट्य साहित्य, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0-80।
82. उपरिवत्, पृ0-94-95।
83. हिन्दी नाटक - उद्भव और विकास : डॉ0 दशरथ ओझा, पृ0-36, 37, 42।
84. पृथ्वीराज कपूर (अभिनन्दन ग्रन्थ), सं0 देवदत्त शास्त्री, लोकायन खण्ड, पृ0-14।
85. रंगमंच : बलवन्त गार्गी, पृ0-92।
86. लोक-साहित्य विज्ञान : डॉ0 सत्येन्द्र, पृ0-431।
87. फोक आर्ट्स ऑफ न्यू चाइना (1954), पृ0-35।

लोकनाटक और भोजपुरी लोकनाटक

लोकनाट्य की उत्पत्ति का भारतीय आधार

लोकनाट्य परम्परा के उद्भव काल का निर्धारण अटकलों और तर्कों का विषय है, इसकी उत्पत्ति के प्रश्न पर अनेक सिद्धान्त हैं। अनेक प्रतिपादनों और निष्कर्षों से स्पष्ट है कि विद्वानों में नाट्य रचना परम्परा के उद्भव और उसके उत्पत्ति काल पर ही मतैक्य नहीं है। दूसरे, प्राचीन उल्लेखों और अभिव्यक्तियों से नाटक और अभिनय की प्रमाणित सूचनाएँ मिलती तो अवश्य है, लेकिन लोकनाट्य परम्परा का जन्म तो मानव जाति के ज्ञात इतिहास से पूर्व अज्ञात सुदूर के गहन अतीत में हुआ होगा, तब उसके काल का निर्धारण, कोरे सिद्धान्तों और अटकलों का विषय ही हो सकता है, किसी निश्चित और सटीक प्रमाण के अभाव में विद्वानों के निष्कर्षों को अपने-अपने अनुमान मानना चाहिए। कदाचित्, नाटक मानव जाति के उद्भव जितना पुराना है। अभिनय, प्रदर्शन की भावना, मुद्रा संकेत मनोभावों के उद्वेलन से उत्पन्न शारीरिक परिवर्तन जैसी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और क्रियाओं में बुद्धिमान मानव जन्मकाल से ही नाट्य तत्त्वों से भरपूर था, अभिनय की स्वाभाविक मुद्राओं और संकेतों से परिचालित था, अनुकरण-प्रिय था, स्वयं प्रवाही स्फीत स्वर ध्वनियों का समुच्चय उसकी भाषा थी, जिसमें उतार-चढ़ाव का एक छन्द था, ताल-मात्रा थी, नृत्य भंगिमा थी। स्वर-व्यंजन, अभिनय, मुद्रा संकेत, संगीत, स्वयं प्रवाही ध्वनियाँ आदि में अभिनय तथा संकेत अभिव्यक्ति के मुख्य साधन-माध्यम थे। तब भाषा असक्त थी, रचना-प्रक्रिया में थी, विचारों को वहन करने के योग्य बनने के क्रम में थी। यह भाषा ध्वनि माध्यम तो कम, भंगिमा, संकेत, मुद्रा अभिनय, अनुभाव प्रधान होने से नाटकीयता से युक्त थी। अतः यह कथन ठीक ही मानना चाहिए कि 'जिस दिन किसी बालक ने खेलते-खेलते किसी अन्य के रूप में अपने को कल्पित किया उसी दिन नाट्यकला की उत्पत्ति हुई।'¹

आदि सृष्टि में जब गुण और आकार में पूर्ण मनुष्य जन्मा होगा, तो भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कामचलाऊ भाषा संकेत प्रधान रही होगी। इसी संकेत को ही अभिनय का आदि रूप मानना चाहिए। आगे चलकर ज्यों-ज्यों भाषा का विकास होता गया, उसने अपनी इस अभिनयात्मक प्रवृत्ति को परिष्कृत कर नाट्यकला के रूप में परिवर्तित किया। अपने चतुर्दिक व्याप्त प्रकृति के नाम-रूपों से उसने बहुत कुछ सहयोग लिया होगा। इनके प्रणयन में प्रकृति का योग असीम है। अतः नृत्य, गीत, कथा, संवाद, अभिनय, संगीत आदि का सृजन प्रकृति की विशाल गोद में अनायास हुआ है। यही नहीं नियति नटी के समग्र क्रिया-कलापों में नाट्यतत्त्व स्वतः विद्यमान है। 'बादलों का उमड़ना-घुमड़ना, बिजली का चमकना-कड़कड़ाना, पवन का सरसराना, झिरमिर झिरमिर बरसात होना, मधुरे-मधुरे मोर नाचना, पतझड़, बसन्त, हेमन्त आदि ऋतुओं की चर्चायें, उगती उठती लहलहाती फसलों की अनजान क्रियायें अपने सहकार, संदेश, सत्य और सीख के सोपान लुटाती हुई कितनी सहज लगती हैं। प्रकृति का यही अनन्त, असीम और अटूट योग लोकनाट्यों के उद्गम एवं विकास का मूलाधार कहा जा सकता है।'²

लोकजीवन के परम्परागत सहज संस्कार ही लोकनाट्यों के स्रोत हैं। गाना, बजाना, नाचना सामूहिक जीवन की सरलतम प्रवृत्ति रही है, इसलिए जहाँ कहीं भी कोई जाति, वर्ग अथवा समुदाय एकत्र होता है, वहाँ अपने मनोरंजन का कोई न कोई साधन ढूँढ निकाल लेता है। यह विशेष स्मरणीय बात है कि पूर्व वैदिक काल में कृषि जीवन के प्रारम्भ होते ही अवकाश के क्षणों में मानव ने अपने मनोरंजन के लिए अनेक साधनों का आविष्कार किया। कुछ साधन समाज के प्रिय विषय बनकर परम्परा के रूप में प्रचलित हो गये। इस प्रकार नाटक, सहज संस्कार प्रसृत होने से, अभिनयशील और कलात्मक होने से सामाजिक उपयोगिता बनकर सामूहिक कृति बन गई।

भरत के पूर्व नाटक का लोकधर्मी रूप न रहा हो, यह असंभव है, यद्यपि यह 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट परिलक्षित नहीं हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि 'नाट्यशास्त्र' ने प्रथम नाटक के रचयिता का न तो नाम ही दिया है और न उसका प्रकार ही बताया है। भरतमुनि जी केवल इतना लिखते हैं —

नान्दीकृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुक्ता ।(65)

अष्टांगपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता ।

तदन्तेअनुकृतिर्वद्धा यथा दैत्याः सुरेजिताः ।।(57) प्रथम अध्याय ।

इस छन्द के सम्बन्ध में डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी टिप्पणी देते हुए कहा है कि 'मुझे

इसमें यह व्यंजना प्रतीत होती है कि 'देवासुर संग्राम' लोकनाट्य था। उसकी लोक प्रचलित कथा को लेकर अनुकरणपूर्वक उसका नाट्य प्रस्तुत करते हुए, उसमें यथा प्रसंग संवाद नटों ने प्रस्तुत किये।³

डॉ० सत्येन्द्र के कथन में सत्यांश है। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि लोकजीवन में लोकनाट्य की रसधारा वेदों से पूर्व चली आ रही है, यों इसका क्रमबद्ध रूप वेदों से देखने को मिलता है।

वेदों में लोकनाट्य के रूप

कई विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के कई स्थल में जहाँ अभिनयात्मक वार्तालाप पाये जाते हैं, नाटक के उपलब्ध प्राचीनतम रूप है। ये ही कथोपकथन परवर्तीकाल में संस्कृत के साहित्यिक नाटकों के आधार बने और लोक प्रसिद्ध यात्रा (जात्रा) रास आदि के रूप में चल निकले।⁴ इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाण मिलता है कि वैदिक काल में बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर अभिनय भी होते थे। एक लघु अभिनय का प्रसंग कात्यायन श्रोत सूत्र 7/8/25 में सोमयाग के सन्दर्भ में मिलता है। वैसे, यह याज्ञिक क्रिया है, परन्तु है अभिनयपूर्ण। वेद संहिताओं में इस प्रकार की प्रचुर सामग्री सुरक्षित है, जिससे तत्कालीन समाज की संगीत-नृत्य प्रियता का पता चलता है। ऋग्वेद की ऊषा सम्बन्धी एक ऋचा (1/92/4) में ऊषा की उपमा नर्तकी से दी गई है। नाट्य-संगीत में निपुण वैदिक युगीन नारियों की प्रसाधन प्रियता के अनेक उदाहरण संहिताओं में देखने को मिलते हैं। वेदों और वैदिक साहित्य के अध्येता मैक्समूलर, लेवी और ओल्देनवर्ग प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद के संवाद सूक्तों के आधार पर नाट्य की उत्पत्ति सिद्ध की है। वेदमंत्रों में बिखरी हुई सामग्री का अध्ययन और अनुशीलन कर डॉ० एस० एन० दास गुप्ता ने भी यह सिद्ध किया है कि 'तत्कालीन जनजीवन में धार्मिक अवसरों पर बड़े-बड़े समारोह आयोजित होते थे, जिनमें नृत्य-संगीत के साथ अभिनय भी सम्मिलित था।'⁵

प्रो० कोनो का मत है कि 'वेदों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी रूपक तत्कालीन लोकप्रचलित स्वांग से लिये गये थे।'⁶ प्रो० हिलब्रांट भी लोक प्रचलित स्वांग की सत्ता संस्कृत नाटकों से पहले मानते हैं। उनके अनुसार— "धार्मिक अनुष्ठानों में नाटक के मूल कारण का समाधान देखना भूल है। यह ठीक है कि इन धार्मिक अनुष्ठानों का नाटक के विकास में आंशिक योगदान है, परन्तु वे स्वयं कर्मकाण्ड में समाविष्ट ऐसे तत्त्व हैं, जिनका मूल लोक में है। यह विश्वसनीय है कि लोक प्रचलित स्वांग का पहले से अस्तित्व था, जो इतिहास काव्य के साथ संस्कृत नाटक के मूल में स्थित था।'⁷ कीथ ने प्रो० कोनो और प्रो० हिलब्रांट के मत की आलोचना की है। कीथ के मत की समीक्षा

करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है— 'डॉ० कीथ की आलोचना का एकमात्र आधार तत्कालीन साहित्य की साक्षी पर निर्भर है। इस आधार पर लोकनाट्य के अस्तित्व को यदि स्वीकारा नहीं जा सकता तो नकारा भी नहीं जा सकता।'⁸

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही इस बात का साक्ष्य देता है कि नाट्य-शास्त्र के पूर्वदेश में अनेक प्रकार के लोक प्रचलित स्वांग प्रचलित थे, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र का निर्माण कला विकास के उन्नत शिखर पर पहुँचने के उपरान्त ही होता है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इसका अपवाद नहीं है। भरत के पूर्व नाटक का लोकधर्मी रूप न रहा हो, यह असम्भव है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रूपक के जो भेद निरूपित किये हैं, उनमें से बहुत से रूप लोक प्रचलित हैं। साहित्य में उनका उदाहरण ढूँढने पर भी नहीं मिलता है। उदाहरणार्थ दशरूपकों के भेदों में स्वयं कीथ ने प्रहसन की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'प्रहसन में इस बात के सभी लक्षण पाये जाते हैं कि वह लोक में उत्पन्न हुआ और लोक प्रचलित था।'⁹ 'भाण' एकालाप है। स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वह भी लोकधर्मी है। भाण आदिम स्वांग का शास्त्रीय रूप है,¹⁰ और उपरूपकों में शिल्प का स्वरूप अस्पष्ट है, यदि उसे स्वांग माना जाय तो स्पष्ट है कि वह मनोरंजन नहीं था।¹¹ उपरूपक के जिन अन्य भेदों का निरूपण मिलता है, उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'सबूक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह। रासक भी इसी प्रकार का एक रूपक भेद है..... रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। सट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजन विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्य शास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था।'¹³

अष्टाध्यायी और महाभाष्य

वैयाकरण पाणिनि (500 ई० पूर्व) ने अपनी अष्टाध्यायी में एक सूत्र (4/3/110) में शिलालि और कृशाश्व द्वारा रचित नाट्य सूत्रों का उल्लेख किया है। नट सूत्रों के निर्माता कृशाश्व और शिलालि के सम्प्रदायों का विकास अलग-अलग रूप में हुआ। कृशाश्व परम्परा के अनुयायियों को कृशाश्विन और शिलालि परम्परा के अनुयायियों को शैलालिन या शैलाल नाम से कहा गया। बाद में इसीलिए कृशाश्विन और शैलालिन शब्दों का प्रयोग नाट्य सूत्र तथा नटों के लिए होने लगा था। वैयाकरण पाणिनि के बाद भाष्यकार पतंजलि ने अपने महाभाष्य में लोकनाट्य की जीवित परम्परा का उल्लेख किया है। उनके युग तक नाट्य का कितना अधिक विकास हो चुका था और समाज में उसको किस चाव से अपनाया जाता था, इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

‘महाभाष्य में जिन ‘शोभनिक ग्रंथिक’ का उल्लेख हुआ है, वह रासकों तथा हल्लीसक में महाभाष्यकाल में रहे होंगे और इनमें कंस-वध तथा बालिवध दिखाये जाते रहे होंगे।’¹⁴

पतंजलि ने इसी प्रसंग में ग्रंथिकों के सम्बन्ध में एक और बात कही है— ‘आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते: केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचित् वासुदेवभक्ता:। वर्णान्यत्वं खल्वपि पृषन्ति: केचित् कालमुखा भवन्ति, केचित् रक्तमुखा: (3/1/2) तो कभी-कभी ग्रंथिक लोग दो दलों में विभाजित हो जाते थे। कुछ कंस भक्त बनते और कालामुख कर लेते और कुछ कृष्ण भक्त बनते और अपना मुख लाल रंग से रंग लेते थे। इसकी विवेचना करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है कि रंग से रंगे काले और लालमुख वाले वर्ग को लेकर कई विवाद खड़े किये गये हैं, उनसे कई अर्थ निकाले गये हैं। कुछ भी अर्थ क्यों न किया जाय, इस वर्ण या रंग में मुख रँगने की बात ऐसे संवादों और नाट्यों का सम्बन्ध लोकतात्विक दृष्टि से निर्विवाद बैठता है। लोकमंच की परम्परा का संकेत इसमें है।’

लोकाभिनयों में मुख रँगने की परम्परा आज भी है। कथकली नृत्य में नायक पच (चंबी) कहलाते हैं, अर्थात् हरे मुख वाले। उनका वेश हरे रंग का होता है। कुछ के मुख लाल पुते होते हैं और उन पर काली रेखाएँ बनाई जाती हैं। अच्छे चरित्र जो अलौकिक शक्ति सम्पन्न होते हैं, उनके मुख सफेद रंगे रहते हैं, जिन पर नारंगी और काली रेखाएँ रहती हैं। धूर्त और ठग काले मुख के होते हैं, जिन पर लाल धारियाँ पड़ी होती है।¹⁵ इसी प्रकार राजस्थान में भीलों के गवरी नृत्य में भी रंगों का उपयोग किया जाता है।¹⁶

श्री मन्मथ राय का कथन है कि ‘वैदिक काल में प्रचलित नाच-रंग तथा क्रीड़ा-कौतुकों पर विवेचन करने से प्रतीत होता है कि उन दिनों देहाती जीवन में भी उपयोगी मनोरंजन के साधनों की कमी नहीं थी। पूर्णांग नाटकों का विकास न होने पर भी अनेक प्रकार के नाच-तमाशों का आविर्भाव हो चुका था।’¹⁷

रामायण और महाभारत काल में लोकनाट्य के रूप

रामायण और महाभारत दोनों ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन दोनों ग्रन्थों में आदि कवि वाल्मीकि और महामुनि व्यास ने वैदिक लोक संस्कृति तथा परम्परा को लिपिबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया। वैदिक युग में यज्ञ-यागों के समय सम्पादित होने वाले नृत्य-गीतादि आयोजनों का विशद रूप भी इन दोनों ग्रन्थों में मिलता है। रामायण और महाभारत से ऐसा ज्ञात होता है कि उस

युग में संगीत और नृत्य आदि कलाएँ किसी वर्ग विशेष तक सीमित न रहकर सामान्य लोकरुचि का विषय बन चुकी थीं। इन दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि राम-रावण और कौरव-पाण्डवों की पुरातन कथाओं को मौलिक परम्परा से सुरक्षित रखने और उनको समाज में प्रचलित करने का कार्य भी तत्कालीन कुशीलवों (नट-नर्तक गायकों) और चारणों ने किया था। रामायण में नट (2/6/14), नर्तक (1/13/7) और शौलूप (2/83/5) आदि का वर्णन हुआ है। नट जाति के लोग रंगमंच पर अवतरित होकर अभिनय करते थे, इसका स्पष्ट उल्लेख रामायण (6/34/42-43) में है। जिस समय भरत अपने ननिहाल में थे, दुःस्वप्न से दुःखित उनके मनोरंजन के लिए नाटक का अभिनय किया गया था। उसमें कुछ तो नृत्य कर रहे थे और कुछ मधुर वाद्य बजा रहे थे -

*वादयन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।*¹⁸

रामायण की ही भाँति महाभारत में भी लोकनाट्य विषयक प्रचुर सामग्री है।¹⁹ महाभारत के प्रधान पात्र श्रीकृष्ण नाट्य-संगीत आदि कलाओं के अधिष्ठाता माने जाते हैं। श्रीकृष्ण और गोपियों की रास-क्रीड़ा भारत की लोकनाट्य परम्परा का स्रोत मानी जाती है।²⁰ महाभारत के हरिवंश पर्व में प्रद्युम्न विवाह की एक कथा से विदित होता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण के अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक नट द्वारा एक अद्भुत नाट्य-प्रदर्शन किये जाने पर उपस्थित ऋषि-महर्षि इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने पुरस्कार स्वरूप उसे आकाश में विचरण करने और स्वेच्छया रूप धारण करने का वरदान दिया-

तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाटयने नटस्तथा।

*महर्षीस्तोषयामास भद्र नामेति नामतः।*²¹

हरिवंश के वाणासुर आख्यान²² में हास्य-विनोदपूर्ण अभिनय के आयोजित होने का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में पार्वती वेशधारिणी अप्सरा चित्रलेखा और शिव के गणों द्वारा जो अभिनय प्रस्तुत किया गया था, उस पर स्वयं शिव और पार्वती ने उनके चातुर्य पर विस्मय प्रकट किया था। इस प्रहसन को 'मुग्धाभिनय' कहा गया है। वैदिक युग के कलानुरागी समाज में जिस समन नामक नृत्य-वाद्य युक्त उत्सव के आयोजित होने का उल्लेख मिलता है, महाभारत काल में उसकी लोकप्रियता और भी बढ़ी है। इसे 'समज्जा' कहा गया है। 'समज्जा' उत्सव के समय समाज के सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष और विशेष रुचि से युवक-युवतियाँ एकत्र होकर नाट्य-संगीत आदि कलाओं में भाग लेते थे और अपनी विदग्धता का परिचय देते थे।

पुराणों में लोकनाट्य के रूप

पुराण साहित्य भारतीय संस्कृति का विश्वकोश है। उसमें धर्म, आध्यात्म, इतिहास, नीति, ज्ञान—विज्ञान और कला—कौशल आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री समाविष्ट है। जहाँ तक कलाओं का सम्बन्ध है, वैदिक युग की अपेक्षा पौराणिक युग में उनके प्रति आदर की भावना और व्यापक प्रचार—प्रसार की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनका अध्ययन लोक—संस्कृति के महत्त्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रास—लीला और छालिक्य अभिनय पौराणिक युग की विशेष देन है। नाट्य कला को भक्ति, प्रेम और आराधना का साधन तथा माध्यम बनाकर कवियों ने उसको नया स्वरूप एवं परिवेश प्रदान किया। धर्म सम्पूजित कला की यह रसधारा लोकमानस में ऐसी घुल—मिल गई कि अब तक उसकी अटूट परम्परा बनी हुई है। विभिन्न प्रदेशों के लोकनृत्यों को अपनी थाती देकर रासलीला ने अपना विकास किया।²³

पालि साहित्य में वर्णित लोकनाट्य के रूप

पालि साहित्य के रचना काल में यद्यपि अभिनेय नाटक नहीं लिखे गये, तथापि विवरणों एवं उल्लेखों से ज्ञात होता है कि जनसाधारण अपने मनोरंजनार्थ अभिनयपूर्वक स्वांग एवं लीलाएँ सम्पन्न किया करता था। इन्हें 'समज्जा' कहा जाता था। विनयपिटक (पृष्ठ—420) से यह पता चलता है कि बिम्बसार के समय मगध की एक 'गिरग समज्ज' में होने वाले अभिनय को देखने के लिए हजारों की भीड़ होती थी। दूर से देखने की आसानी हो, इसके लिए लोग बैठने के वास्ते मचान बनाते थे। 'गिरग समज्जा' के इस अभिनय की तुलना महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भोजपुरी क्षेत्र में प्रसिद्ध भिखारी ठाकुर के नाटकों से की है। राहुल जी ने आगे लिखा है कि 'राजाओं और उच्च वर्ग के लोगों के लिए सीमित जनों के बीच में भी अभिनय होता हो, पर इसका उल्लेख हमें प्राचीन पालि साहित्य में नहीं मिलता है।'²⁴

आजकल के नटुआ नाच दिखाने वाले नट—नटनियों के समान उस युग में भी लंघक अथवा लंघन नर्तक नाम के बाजीगर होते थे, जो कूदने—फाँदने और बाँसबाजी दिखाने में बड़े कुशल होते थे। धम्मपद²⁵ में एक बाजीगर कन्या की कथा देखने में आती है, जिसमें एक नटिनी लम्बे बाँस की चोटी पर अनायास चढ़ जाती और वहीं घूमती—फिरती, कलैया खाती और नाचती—गाती थी। उसकी करामात देखने के लिए राजगृह टूट पड़ता था।²⁶

जातक²⁷ में सर्पनृत्य का उल्लेख हुआ है। सर्प नृत्यों को भी महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने लोकनाट्य ही माना है। उन्होंने लिखा है— 'सर्प नृत्य आखिर नकल नहीं तो क्या है। नकल ही अभिनय है।'²⁸

स्पष्ट है कि बुद्धकाल में नागर लोगों के लिए शिष्ट या लिखित नाटक का एक भी उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों नाटक की मंडलियाँ आजकल की नाटक मण्डलियों के समान घूम-घूमकर खेल दिखाती फिरती थीं। 'कण्वेट जातक' में इस प्रकार की एक यायावर नाटक मण्डली का वर्णन मिलता है, जो देश-विदेश में 'समज्ज' प्रदर्शित करती फिरती थी। जातक ग्रन्थ में एक कथा है— 'सामा नाम की एक वार-नारी को उसका प्रेमी धोखा देकर चला जाता है, विरह-विधुरा सामा उसे खोज निकालने के लिए बड़े-बड़े उपाय करती है, परन्तु असफल रहती है। निदान वह नटमण्डली के शरण में पहुँचती है, वह उन्हें फुसलाती हुई कहती है कि आप लोग नाना देश की यात्रा करते फिरते हैं, अभिनय के दिन खेल प्रारम्भ करने के पहले प्रस्तावना के रूप में मेरा रचित एक गीत गाया करें। सम्भव है उसे सुनकर मेरा प्रिय फिर लौट आवे।'²⁹

जातक ग्रन्थों में कई श्रेणी के कलाकारों का उल्लेख हुआ है, जिनमें नट (अभिनेता), नर्तक (नाचने वाले), गायक, पाणिस्सर (ताली बजाने वाले) और कुम्भधुनिक (डुग्गी बजाने वाले) मुख्य थे।³⁰ यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि उन दिनों के नाटकों में आजकल के लोकनाट्यों के समान नृत्य-गीत की भरमार होती थी तथा व्याख्यान और वार्तालापों की जो आधुनिक काल के नाटकों की विशिष्टता है, कमी होती थी।³¹

जैन ग्रन्थों में लोकनाट्यों की स्थिति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैन धर्मग्रन्थों (ई0 पू0 चौथी शती और पाँचवी शती के बीच) में मुख्यतः वैराग्य, संयम, तप, व्रत, स्वाध्याय, ध्यान, साधु, आचार, भिक्षाटन, सिद्धि आदि की चर्चा की गई है। आध्यात्मिकता के इस जंगल में आमोद-प्रमोद के साधनों की खोज प्रायः आकाश कुसुम तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाना है, फिर भी जैन ग्रन्थों में ऐसी मण्डलियों के अनेक उल्लेख प्राप्त हैं, जिनके प्रदर्शन न केवल गाँव के चौराहों, सांस्कृतिक पर्वों तथा मठ-मन्दिरों में होते थे, अपितु राजाओं और सम्राटों के मनोरंजन के भी साधन थे। इन नाटकों के लिखित रूप का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु लोक में इनकी बहुलता थी। महावीर स्वामी के जन्म पर जो उत्सव मनाया गया था, उसमें नट, नचवैये, डोरी पर नाच दिखाने वाले, पाठक, रास सम्बन्धी गीत गाने वाले (लासका), बाँसबाजी दिखाने वाला, थपोड़ी पीटने वाले तथा तूड़ और बीन बजाने वालों ने भाग लिया था।³² भगवान

महावीर ने ऐसे श्रमण—निर्गन्धों की निन्दा की है जो हँसोड़, भाँड़, मुँहफट का नृत्य—गीत प्रिय है।³³

जैन ग्रन्थों के सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ घुमक्कड़ कलाकार विभिन्न वेशभूषाओं में विविध संगीत वाद्यों के सहारे अभिनय किया करते थे। श्री देवीलाल सामर के अनुसार जिन मनोरंजनात्मक नाट्यों का उल्लेख जैन सूत्रों में हुआ है, वे निश्चय ही शास्त्रोक्त नाट्य नियमों से बँधे हुए नहीं थे और न उस समय विद्वानों द्वारा नाट्य—तंत्र की कल्पना ही की गई थी। ये लोकधर्मी नाट्य निश्चय ही सभी नियमों से मुक्त होकर स्वच्छन्द रूप से प्रदर्शित होते थे।³⁴

प्राचीन जैनागमों में ऐसे कई नाट्यों का वर्णन है, जो तीर्थकरों के सामने होते थे। जैनागमों में जहाँ देवताओं का वर्णन है, वहाँ उनका जीवन अधिकांश नाटक, संगीत, नृत्य आदि में ही लीन हुआ दर्शाया गया है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत जिन पाँच प्रकार के अभिनयों (प्रात्यंतिक, सामान्य, नोपातिपातनिक, दार्शनिक और लोकमाध्यवसानिक) का उल्लेख किया है, लोकजीवन में उनका सर्वत्र व्यवहार होता था। विविध जैन आगमों में इनका अद्भुत वर्णन मिलता है। इन वर्णनों में 32 प्रकार के नाटक³⁵ भी हैं, जो देवगणों के सम्मुख प्रदर्शित होते थे। इन नाटकों में स्त्री—पुरुष सभी भाग लेते थे तथा उनमें नाना प्रकार के रास, नृत्य आदि की योजना थी। इनके लिए कोई विशिष्ट रंगशालायें नहीं थीं। कहीं भी चौड़े स्थान के कुछ ऊपर से तानकर विविध सिंहासनों तथा साज—सज्जा के साथ वे प्रदर्शित होते थे। ये अधिकांश में मौखिक परम्परा के रूप में चलते थे, इसलिए इनके लिखित रूप नहीं मिलते, फिर भी परम्परा के अनुसार आचरांग सूत्र में जैन श्रमणों को ऐसे स्थानों में जाने से मना किया गया है, जहाँ नाटक खेले जाते हों अथवा नृत्य, गीत और प्रहसन होता हो।³⁶

सिद्ध साहित्य लोकनाट्यों के सन्दर्भ में

विक्रम की सातवीं सदी से लेकर 12वीं सदी तक समूचे उत्तर भारत में नाथ—पंथी योगियों, सिद्धों एवं कापालिकों का प्रभाव था। इस काल में जहाँ एक ओर संस्कृत भाषा में उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की रचना हो रही थी, वहीं सामान्य जनसमूह विभिन्न प्रकार के स्वांग, रास, तमाशा, लीला आदि के द्वारा अपना मनोरंजन कर रहा था। संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों का प्रचार एक विशिष्ट वर्ग में ही था। जनभाषा में भी नाट्य रचना चल रही थी। उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की विद्यमानता में भी जननाटक की रचना होने का मुख्य कारण बताते हुए डॉ० कीथ स्पष्ट करते हैं— 'संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जनभाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता

के लिए प्रायः असम्भव था। केवल अल्प संख्यक शिष्ट वर्ग उस भाषा के समझने में समर्थ था और उसी उच्च पदस्थ अल्पसंख्यक पठित समाज के लिए साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। एतदर्थ संस्कृत केवल एक वर्ग विशेष की कलाभिरुचि और हास्य-विनोद का विषय रहा है। सामान्य जन-समुदाय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।³⁷ अतएव सामान्य जन अपनी लोकभाषा के नाटकों द्वारा अपना मनोरंजन करते रहे होंगे और ये नाटक साहित्यिक नाटकों को प्रभावित भी करते रहे होंगे। उदाहरणार्थ जन नाटक का हँसोड़ पात्र संस्कृत नाटक में विदूषक के रूप में आ गया। जननाटक और साहित्यिक नाटक का यह परस्पर सम्बन्ध हमारे ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी रहा है। अंग्रेजी के नाटक जब प्रारम्भिक अवस्था में थे, तो उन पर जननाटक प्रभाव डालते रहे।³⁸

लोक प्रचलित नाटकों के उल्लेख सिद्धों के साहित्य में यत्र-तत्र मिल जाते हैं। इन नाटकों की शैलियों में स्वांग का एक विशेष स्थान है। फ्राँसीसी इतिहासकार गासाँ द तासी ने भी अपने इतिहास में सिद्ध युग के लोक प्रहसनों का उल्लेख किया है।³⁹ इस प्रकार के एक स्वांग का उल्लेख सिद्ध कण्डपा (विक्रम की नवीं शताब्दी) ने डोमिनी के आह्वान गीत में किया है —

नगर बाहिरे डोंबी तोहारि कुड़िया छइ छोइ जाइ सो ब्रात्य नाड़िया।
आलोडोंबि। तोए सय करिब य सांग निधिण कणहकपाती जोइ लोग॥
एक सो पद्मा चौखटिट पाखुड़ि तेहि चढ़ि नाचअ डोंवी कापुड़ी॥

डोमिनी के साथ स्वांग करने का आह्वान उस काल की स्वांग शैली को प्रमाणित करता है। डोमिनियों के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रसिद्ध भोजपुरी स्त्री लोकनाट्य 'डोमकच' की परम्परा से जोड़ी जा सकती है।

इसी काल में नाट्य-रासक की परम्परा भी अपभ्रंश के आश्रय से विकसित हुई। जैन मन्दिरों में रासक प्रदर्शन विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। यही रासक परम्परा कालान्तर में फागु परम्परा के उद्भव का कारण बनी।⁴⁰ वस्तुतः फागु नाट्य रासक ही थे, जो विशेष रूप से फाल्गुन मास में खेले जाते थे और होली का आनन्द-उल्लास तथा बसन्त का मादक वातावरण इनमें विशेष रूप से प्रदर्शित होता था।⁴¹ रासकों की यह फागु परम्परा ही अपभ्रंश के स्थान पर हिन्दी के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद स्वांग के रूप में जीवित रही। टैम्पिल महोदय ने पंजाब के अम्बाला जिले के जगाधारी नामक नगर में बंशीलाला नाम स्वांगिये से लिपिबद्ध जो तीन स्वांग अपने ग्रन्थ 'दि लीजेण्ड्स ऑफ दि पंजाब' में छापे हैं, उनके विषय में टैम्पिल ने स्पष्ट लिखा है कि 'ये तीनों स्वांग जगाधारी में होली के अवसर पर प्रतिवर्ष प्रदर्शित किये जाते थे।'

अद्दहमाण के 'संदेशरासक' (12वीं शताब्दी) में ग्राम्य बालिकाओं द्वारा ताली बजा-बजाकर नृत्य प्रदर्शन करने की बात कही गई है—

जइ भरह भाव छन्दे णच्चइ नवरंग चंगिमा तत्णी ।
ता किम् ग्राम गहिल्ली ताली सद्दे ण नच्चई ॥

श्री हर्ष (सातवीं सदी) की 'रत्नावली नाटिका' में सखियों द्वारा चर्चरी खेले जाने का उल्लेख है। यह चर्चरी उस समय का बहु-प्रचलित क्रीड़ापरक नृत्यगीत था, जिसकी परम्परा मध्यकाल में थी और आज भी किसी न किसी रूप में भोजपुरी और अवधी प्रदेश में पाई जाती है। जायसी, कबीर आदि कवियों ने विभिन्न सन्दर्भों में बसन्त ऋतु में स्त्रियों द्वारा खेले जाने वाले चाँचर का उल्लेख किया है। आज भी होलिका दहन के अवसर पर चाँचर की प्रथा प्रचलित है, जिसमें होली के आनन्द-उमंग और मौज-मस्ती की आवेगात्मक अभिव्यक्ति क्रीड़ापरक सामूहिक नृत्यगीत द्वारा की जाती है। इसकी समता आजकल के गीत-नाट्य से की जा सकती है।

'सांगीत' जो आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश का बहुप्रचलित लोकनाट्य है, ग्यारहवीं शताब्दी से प्रचार में आ चुका है। इस सम्बन्ध में श्री अमृतलाल नागर का कथन है कि सांगीत की परम्परा पृथ्वीराज चौहान के समय से प्रारम्भ हो गई होगी, क्योंकि सांगीत की इस विधा में पृथ्वीराज चौहान तथा उन्हीं के समकालीन आल्हा-ऊदल की वीरता की गाथाओं की सर्वाधिक प्रचुरता है तथा नाथपंथी योगियों की चमत्कारप्रियता भी इस मंच के कथानकों में भरपूर है।⁴² श्री अमृतलाल नागर के इस कथन के सन्दर्भ में इतना तो अनुमान लगाया ही जा सकता है कि भारत में मुस्लिम शाही के पूर्व संस्कृत के शिष्ट नाटकों के समानान्तर लोक-नाट्यों की भी एक धारा जनमानस को अनुप्राणित करती रही थी।

मध्यकाल में लोकनाट्यों की स्थिति

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से उत्तरी भारत में मुसलमानों का धारावाहिक आगमन एवं आधिपत्य का क्रम शुरू हो गया था। बारहवीं शताब्दी में अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के दिल्ली के सिंहासन से पदच्युत होने पर उत्तरी भारत में मुस्लिम शाही स्थापित हो गई। सांस्कृतिक दृष्टि से नाटकों के प्रति अन्यमनस्क मुस्लिमशाही के काल में संस्कृत नाट्यधारा में ह्रास हुआ। मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दू राजाओं के राजप्रासाद उजड़ने लगे, सहृदयों एवं संरक्षकों की संख्या न्यून हो चली। 'परिणामतः ऐसी परिस्थिति में वही नाट्य-प्रदर्शन पनप सका, जो राजप्रासाद पर कम आश्रित था,

मन्दिर और धर्मस्थानों पर अधिक, जो मेलों और उत्सवों में जनमनोरंजन कर पुष्ट हो सकता था और जिसमें वस्तुतः विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता था।⁴³ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण के कारण रंगमंच की शास्त्रीय परम्परा के कुण्ठित हो जाने पर मध्यकाल में कई शताब्दियों तक जनमानस अपना मनोरंजन कई प्रकार के अर्द्धनाटकीय अभिनयों यथा— स्वांग, तमाशा, नकल, भाँड़ आदि के द्वारा करता रहा। देशी भाषाओं में शास्त्रीय नाटकों का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के पहले हुआ। मध्यकाल की इस लम्बी अवधि में लोकनाट्यों के विविध रूप संस्कृत की नाट्य परम्परा से स्वतंत्र होकर देश की कोटि-कोटि जनता का मनोरंजन करते रहे। भारतीय नाट्य के इतिहास में इन मध्ययुगीन अर्द्धनाटकीय रूपों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ० सुरेश अवस्थी के कथनानुसार 'भारतीय नाट्य के इतिहास में मध्ययुगीन बहुरंगी नाट्य के विविधतापरक स्वरूप से अधिक आकर्षक कोई भी अन्य वस्तु नहीं है। शास्त्रीय परम्परा के विच्छिन्न होने के पश्चात् 'भाषा साहित्य' तथा 'जनपद संस्कृति' के प्रसार और समृद्धि के साथ ही साथ नाटक का भी उदय और विकास हुआ। हमारा लोकनाट्य 'बहुरंग नाट्य' की परम्परा में है।'⁴⁴

भारतीय नाट्य साहित्य के इतिहास का मध्यकाल इन्हीं बहुरंगी एवं विविधतापूर्ण नाटकीय क्रियाकलापों के विकास एवं प्रसार का काल है, यदि इस काल को लोकनाट्यों का स्वर्ण युग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं होगी। ऐसा होने पर भी हिन्दी नाट्यालोचना में उन्नीसवीं शताब्दी तक के सात सौ वर्षों की अवधि में लोकप्रिय लोकधर्मी नाटकीय क्रियाकलाप का यथेष्ट अध्ययन नहीं हो पाया है। सम्पूर्ण उत्तरी भारत इन विविधतापूर्ण एवं मनोरंजनपूर्ण मध्ययुगीन लोकनाट्यों की ऐसी झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसमें हिन्दी भाषी क्षेत्र के विभिन्न अंचलों की एतद् सम्बन्धी अनेकरूपताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस काल के परम्पराशील नाट्य रूप के सन्दर्भ में विचार करते हुए डॉ० शंकरलाल यादव ने लिखा है—“नाटकीय दृष्टि से हिन्दी का मध्ययुग बड़ा असन्तोषजनक रहा है। देश में अव्यवस्था थी। रंगमंच का विकास न हो सका। राज्य की ओर से भी कोई प्रोत्साहन रंगमंच को नहीं मिला। इसके विपरीत राजप्रसादों से उसे निर्वासित कर दिया गया। वह अपनी लघु सी साज-सज्जा लिये मठों और मन्दिरों में पड़ा रहा। इस भयावह युग में उसकी बड़ी हीन अवस्था रही, परन्तु इसी अवस्था में पड़ा हुआ वह जनता का मनोरंजन करता रहा। ग्राम और नगर की असंस्कृत जनता गगन-वितान के नीचे ढोलक, सारंगी और खड़ताल के स्वर में स्वर मिलाकर उसके अनेक लीलाओं का आनन्द लेती रही।”⁴⁵

इस काल में साटक अथवा सट्टक, रासो अथवा रासक, चर्चरी तथा अन्य कई प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ सम्भवतः मनो-विनोद के किसी न किसी प्रकार की संगीतात्मक नाटकीय पद्धतियाँ थीं। साटक, रासक और चर्चरी के अलावा लीला, स्वांग, रहस एवं यात्राओं का भी प्रचलन मन्दिरों और मठों के माध्यम से हो रहा था, जिसमें जन साधारण के समस्त कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन के विविध रूपों की झाँकी प्रस्तुत होती थी।

हिन्दी क्षेत्र के लीला नाटकों में राम तथा कृष्ण का जीवन अंकित है। सन् 1570 के आस-पास हरिराम व्यास ने पहले-पहल लीला नाटक की पद्धति चलाई।⁴⁶ श्री जगदीशचन्द्र माथुर का अनुमान है कि उन्हें इसकी प्रेरणा रूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' नामक ग्रन्थ से मिली, जिसमें राधा और कृष्ण के छद्मवेश धारण करने के प्रसंग का सर्वप्रथम उल्लेख है। हरिराम व्यास के पदों के प्रारम्भ में पात्रों के नाम नाटकीय पद्धति से दिये गये हैं और कुछ विद्वानों का विचार है कि 'गोरे ग्वाल-लीला' जिसका आधार ही छद्मवेश है, सबसे पहले हरिराम व्यास ने ही लिखी है।⁴⁷ इस कथन के बावजूद यद्यपि लीला नाटकों के ऐतिहासिक उद्गम का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, तथापि अनुमान है कि सन् 1531-32 के आसपास बल्लभाचार्य ने प्राचीन ग्रंथों के कृष्ण अभिनय को रासलीला के रूप में प्रचारित कर एक गीतिनाट्य (फोक ओपेरा) की परम्परा चलाई जो 19वीं सदी तक लोक रंगमंच का काम देती रही।

अकबर के राज्यकाल (सन् 1556-1605 ई0) में रासलीला का प्रचलन तो रहा ही, अयोध्या और काशी में रामलीला के वर्तमान रूप का भी सूत्रपात हुआ। वैसे तो रामायण के चरित्र महाभारतीय चरित्रों से अधिक प्राचीन और लोकप्रिय रहे हैं, पर वे साहित्यिक रचना से पहले कब लोकमंच पर आविर्भूत हुए। यह निश्चित रूप से बता पाना कठिन है। लोगों का अनुमान है कि वर्तमान रामलीला के कर्णधार एवं प्रस्तुतकर्ता थे स्वयं गोस्वामी तुलसीदास और उनके साथी काशी के प्रसिद्ध मेघा भगत। यह सत्य है कि मध्ययुग में रामचरित्र लोक रंगमंच का एक प्रमुख विषय रहा है। 18वीं सदी के अन्त में रामलीला के काशी में प्रदर्शन का जो विवरण (प्रिंसेप ने अपने ग्रन्थ में दिया है) प्राप्त होता है, उससे उत्तरी भारत के लोकरंगमंच की तत्कालीन संप्राणता का परिचय मिलता है।⁴⁸

मध्ययुगीन लोकनाट्यों के विविध रूपों की झलक हमें उस युग के काव्य-साहित्य में मिलती है। कबीर, जायसी, तुलसी और सूर आदि मध्यकालीन हिन्दी कवियों द्वारा

रचित साहित्य में अपने युग के नाटकीय मनोविनोदों और भ्रमणशील नटों और अभिनेताओं की चर्चा हुई है। कबीरदास के समय में स्वांग और तमाशों का इतना अधिक आकर्षण बढ़ रहा था कि लोगों द्वारा इसके विरुद्ध साधु-महात्माओं के निषेध एवं अवज्ञा के कानों से सुने जाते थे। इससे लोकनाट्यों के प्रचार और प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। संत कबीर कथा-गायन, स्वांग और तमाशा आदि नाटकीय मनोरंजनों का उल्लेख करते हुए श्रोताओं को संकेत करते हैं –

कथा कोय तहं स्रोता सोवे, वक्ता मूँढ़ पचाया रे।
होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे॥⁴⁹

जायसी ने अपने 'पद्मावत' में कथा-वर्णन, नृत्य, जादू के खेल, कठपुतली के नाच, स्वर-संगीत, नाटक, तमाशा, नटों के खेल आदि जन-सामान्य के नाट्याभिनय प्रधान मनोविनोद के साधनों का वर्णन करके तत्सम्बन्धी मध्यकालीन स्थिति का प्रामाणिक परिचय दिया है। सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड में उन्होंने लिखा है –

कतहूँ कथा कहै कछु कोई। कतहूँ नाच कोउ भल होई॥
कतहूँ छरहरा पेखनालावा। कतहूँ पाखण्ड काठ नचावा॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला॥

जायसी ने स्वांग का भी उल्लेख किया है। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ में जाने के लिए जोगिन का सफल स्वांग करने वाली एक वेश्या को राजमहल में आमंत्रित किया और उसे दूती बनाकर चित्तौड़ भेजा। बादशाह-दूती खण्ड में इसका उल्लेख इस प्रकार है⁵⁰—

पातुरि एक हुति जोगि संवागी। साह अखोर हुत ओहि भाँगी।
जोगिनि भेस वियोगिन कीन्हा। सींगी सबद मूल तत लीन्हा॥
पदमिनि पहुँ पठई करि जोगिनि। बेगि आनु करि विरह वियोगिनि॥

गोस्वामी तुलसीदास कठपुतली नाटक का उल्लेख दार्शनिक प्रसंग में करते हैं—

उमाँ दारू जोषित की नाई, सबहिं नचावत राम गोसाई॥

सूरदास ने भी स्वांगी शब्द का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग किया है –

नटवर के बटा भए ए नैन,
देखति ही पुनि जात कहाँ धों, छिनहिं और छिनऔर॥

उत्तर-मध्य काल (शीतिकाल) के अन्य कवियों ने भी नाट्य रूपों और नाट्यकलाओं का अभिनय प्रदर्शनकर्ता कलाकारों का उल्लेख किया है। तानसेन ने अपने एक पद में 'रहस' शब्द का प्रयोग इसी सन्दर्भ में किया है -

सब समूह करिहै तू नर-नारी रहसन।
ले चले करन लाडले के मंगन की॥

'रहस' शब्द के प्रयोग एवं अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ० सुरेश अवस्थी ने लिख है कि 'रहस' शब्द का उल्लेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अमानत ने उर्दू के पहले लिखित नाटक 'इन्दर सभा' को 'जलस-ए-रहस' कहा है।

निष्कर्ष यह है कि सूर, तुलसी, जायसी, केशव आदि अन्य मध्यकालीन कवि जब युग प्रचलित अभिनय कला सम्बन्धी नाट्य पद्धतियों का उल्लेख करते हैं तो वे सूत, मागध, भाट, चारण, वंदीजन आदि भ्रमणशील एवं लोक-कलाकारों एवं गायकों की चर्चा अवश्य करते हैं। इन गायकों के काव्य-पाठ की कला में अभिनय के तत्त्व की प्रमुखता रहती थी। ये प्रायः वेश बनाते, मुद्रायें दरसाते और कभी-कभी दृश्य-विधान भी प्रस्तुत करते थे।

सत्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में स्वांग, रास तथा भगत लोकमंच के लोकप्रिय एवं सुदृढ़ आधार तथा माध्यम बन गये थे। 'आइने-अकबरी' में नट-बहुरूपी, बाजीगर, नटवा, कलावंत आदि के साथ स्वांगी, कीर्तनियाँ, भगतिया और भाँड़ आदि कलाकारों की विशेष पेशेवर जातियों के नाट्य प्रदर्शनी का विवरण मिलता है।⁵¹ 'आइने अकबरी' में उस समय की दो परम्पराओं का उल्लेख है- भगतों की भगत परम्परा और ब्राह्मणों की कीर्तन परम्परा। इससे स्पष्ट है कि ब्रज में उस समय लोकनाटक ने दो रूपों में विकास पाया। भगत परम्परा में बहुरूपियापन की प्रधानता थी। सत्रहवीं शताब्दी के विरचित बरकत-उल्लाह साहब के 'प्रेम-प्रकाश' में बहुरूपियों की चर्चा आई है।

सत्रहवीं सदी के पूर्व स्वांग नाटक की जो भी परम्परा रही है, वह या तो नष्ट हो गये या लिपिबद्ध नहीं किये गये, वे आज उपलब्ध नहीं है। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इस परम्परा में रसरूप के 'हास्यार्णव' को जो सन् 1686 से 1689 के बीच की रचना है, स्वांग शैली की पहली उपलब्ध कृति माना है।⁵² डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इस रचना को सर्वप्रथम लोकधर्मी लिपिबद्ध स्वांग कहा है। स्वांगियों के समान दूसरी परम्परा जिसका अबुलफजल ने 'आइने अकबरी' में उल्लेख किया है, भगतियों की भगत परम्परा थी। इसमें विभिन्न रूप धारण कर हास-परिहास करना सम्मिलित था। इन भगतियों के सम्बन्ध में साधार

टिप्पणी करते हुए रामनारायण अग्रवाल ने अनुमान लगाया कि 'यह भगतियों प्राचीन नटों की ही परम्परा के कलाकार रहे होंगे तथा उस समय मन्दिरों में आयोजित उत्सव समारोहों में लोकानुरंजन करना इनका काम रहा होगा।'⁵³

औरंगजेब के शासनकाल में ब्रज के मन्दिरों पर एक भीषण दुर्भाग्य आया। मन्दिर तोड़े गये, कलाएँ विनष्ट हुईं, परिणामतः भगत करने वाले कलाकार आश्रयविहीन हो गये और वे ब्रज को छोड़कर अन्यत्र चले गये होंगे तथा धुमन्तू नटों के समान घूम-घूमकर अपना करतब दिखाते हुए रोजी कमाने लगे होंगे। इस सम्बन्ध में औरंगजेब के समकालीन (सन् 1685 ई0) मौलाना मोहम्मद अकरम गनीमत के ग्रन्थ 'नैरंगे इश्क' की निम्नलिखित पंक्तियाँ काफी द्रष्टव्य हैं —

वशहरे मशब रसीदा तुरफे जाम आ। शरर परवाना हा बरगरदे शाम आ॥
मुकल्ला पेशरू बा तजों अन्दाज। मुशाविद सीरतां बा नग्मों साज॥
वाइल्में रम्स ओ तकदील ओस्तादां। मुराद खातिर शरत न जादां॥
हम खुश बड़े जगां नग्मा परदाज। वहरफ इस्तलाहे मा 'भगतबाज'॥
वफन्ने खाविश्तन उस्ताद हर यक। गहे मर्दों गहे जन गहे तिफ्र लक॥
गहे सन्नसिया ने यूँ परीशाँ। गहे दर गुरवतों गाहे वंश भी॥
गहे काश्मीरी वो गाहे फिरंगी। गहे हिन्दू जनान खतना हमा दोश॥
मुसलमां जाद हा रा गारते होश। गहे दहका जन बगहे बीर दहकाँ॥
गहे गिब्र पृत्तरिश ना मुसलमाँ। कज्जल वाश्ना गहे अमरो खरीदार॥
गुलामी गहे तू तूती चरब मुफ्तार। गहे रंगेजने नो जाहद बर ओ॥
बदस्तये दाया गरियां जायदे मो। गहे दीवाना व गहे परी बूद॥
कलामकरा शुनीदन बावरी बूद। गरज कोमी निखाही जलया साजिन्द॥
व हर रंगे कि ख्वाही रश्वा वाजिन्द॥⁵⁴

डॉ० सोमनाथ गुप्त के शब्दों में इस मसनवी का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—
'आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं जो एक नोजो साज—अन्दाज (विशेष ढंग) के साथ नकलें उतारते हैं और नग्मोसाज (संगीत) के साथ शोवदे (आश्चर्यजनक खेल) दिखाते हैं। नाज और नकल के ये उस्ताद हैं। इनकी आवाज भी मीठी है। हमारी भाषा में इन्हें भगतबाज कहते हैं। ये कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं, कभी परेशान हाल संन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी का वेश बना लेते हैं और कभी फिरंगी (अंग्रेज) बन जाते हैं। कभी दाढ़ी मुड़ाकर गिब्र की सूरत में नजर आते हैं, कभी मुगलों की शकल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा

बन जाते हैं, जिसका बच्चा दादा की गोद में रोता रहता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह के रश्वा जमाने से काम लेते हैं।'

मौलाना साहब के कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 17वीं सदी के मध्य में जन-मनोरंजन का यह साधन विद्यमान था। इससे यह भी सूचना मिलती है कि ये 'भगतबाज' आज की नौटंकी मंडलियों अथवा स्वांग मंडलियों की भाँति अपनी कला का प्रदर्शन एक स्थान से दूसरे स्थान पर करते-फिरते थे।

औरंगजेब के शासनकाल में भगतबाज मथुरा से आगे लखनऊ तक फैल गये थे। डॉ० महमूद हसन रिजवी ने वाजिद अली शाह के रहसखाने की स्थापना से पूर्व लखनऊ में ड्रामा की झलक देने वाली विधाओं की चर्चा की है— 1. किस्साखानी या दास्तान गोई, 2. भाड़ों की नकलें, 3. बहुरूपियों के रूप। बहुरूपियों का सम्बन्ध वे भगत से जोड़ते हैं, क्योंकि 'फिरहंग' आसफिम में भगत का अर्थ बताते हुए उसे हिन्दुओं का एक मजहबी स्वांग कहा गया है, फिरहंग में भगतियों को हिन्दुस्तान का वह फिरका कहा गया है जो लड़कों को नचाता और स्वांग वगैरह भरकर तमाशा दिखाता है।⁵⁵ भगतों की पुरानी परम्परा जिसका उल्लेख 'आइने अकबरी' में मिलता है, औरंगजेब या उसके उत्तराधिकारियों के काल में भाड़ों की नकल के रूप में बदल गई और भगतबाज विवशता के कारण ही सही मुसलमान बनकर भाँड़ कहलाने लगे, फिर भी भड़ैती कला से भगतिये श्रेष्ठ ही समझे जाते थे। भाँड़ जहाँ अपने लतीफे सुनाकर या नकले निकालकर लोगों का मनोरंजन करते थे, वहाँ भगतबाजों का काम किसी का वेश धारण करके उसी के अनुकरण पर अपनी गतिविधियों से अभिनय द्वारा दर्शकों को प्रभावित करना था।

सन् 1800 ई० के आसपास पहले से चली आ रही स्वांग परम्परा सांगीत के नाम से विकसित हुई। 'आइने अकबरी' में उल्लिखित भगत परम्परा इस काल तक आकर एक प्रकार से रूक गई और उसके स्थान पर जो नई प्रणाली विकसित हुई, उसे सांगीत नाम दिया गया। सांगीत लोकनाट्य की यह परम्परा तब से समूचे पश्चिमोत्तर भारत में विकसित होकर आज तक चली आ रही है।

संस्कृत नाटक अवसान के बाद मध्ययुग के अन्त और उसके आगे भी उत्तर भारत के पश्चिमी भाग में जिस प्रकार लीला, नाटक, स्वांग, भगत, भाँड़ और सांगीत लोकनाट्यों का प्रचलन रहा, उसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश, भोजपुरी भाषी क्षेत्र, मैथिली क्षेत्र, बंगाल और आसाम में भी लोकनाट्यों के विविध रूप प्रचलित रहे। आसाम में अंकिया नाटक, बंगाल में जात्रा, मिथिला में कीर्तनिया नाटक तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश या

भोजपुरी क्षेत्र में रामलीला, गोंड़ऊ नाच, धोबिया नाच, नटुआ नाच आदि अपने बहुरंगी रंग-ढंग से लोकमानस का अनुरंजन करते रहे। पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार अर्थात् भोजपुरी भाषा भाषी क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्यों के विविध रूपों का विकासात्मक अध्ययन आगे के अध्यायों में प्रस्तुत हुआ है, जिनका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार मूल रूप से मध्ययुगीन लीला-नाटक, शोभा-यात्रा या सिद्धों के साहित्य में उपलब्ध स्वांग या रहस आदि से प्रतीत होता है।

लोकनाट्यों के मूल स्रोत

लोकनाट्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण कारणों की ओर संकेत करते हुए डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने स्पष्ट किया है— 'लोकनाट्य लोकमानस की अनुकरणमूलक प्रवृत्तियों का सहज प्रतिरूप कहा जा सकता है। पोथी ज्ञान और नागरिक सभ्यता से दूर पला हुआ लोकमानव जब देवी-देवता, भूत-प्रेत, राजा-रानी, जमींदार-साहूकार आदि की नकलें उतारता है, चेहरे पर मुखौटे लगाकर या कालिख-चूना पोतकर उनके स्वांग रचता है, तब लोकनाट्य एक अनगढ़ रूप में जन्म लेता है और कालान्तर में परम्परा पोषण द्वारा लोकरंजन की स्थायी निधि बन जाता है। पूजा-बलिदान, हवन-यज्ञ, जन्म-विवाह और पर्व-त्योहार आदि उल्लेखनीय अवसरों पर, जनमानस के उल्लास को अधिक सबल रूप में व्यक्त करने के लिए लोकनाट्य परम्परा आविष्कृत हुई होगी। बीज रूप में, पहले तो सामूहिक नृत्यों और उनके साथ गाये जाने वाले संवादपरक गीतों का प्रचलन हुआ होगा और फिर प्रचलित आख्यानों के लोकप्रिय चरित्रों के अनुकरण की प्रवृत्ति द्वारा उसे पूर्णता मिली होगी। वस्तुतः लोकनाट्य, लोक-नृत्य, लोक-गीत और अलौकिक कथा-कहानियों एवं लघु-वार्ताओं के सम्मिलित उपादानों का क्रमिक विकास है।'⁵⁶

डॉ० सत्या गुप्त ने लोकनाट्यों की उत्पत्ति के मूल में मनोवैज्ञानिक कारण ढूँढते हुए मानव की सहज अभिव्यक्ति की प्रधानता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव आत्माभिव्यंजन करने वाला प्राणी है। बिना शारीरिक क्रियाओं, मुख-मुद्राओं और कायिक अभिनय से उसे संतुष्टि नहीं होती। जब हम शब्दों द्वारा भावाभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहते हैं तो स्वाभाविक रूप में हाथों से स्थिति स्पष्ट करते हैं तथा वह भी अभिनय का ही रूप है। सभ्यता और संस्कृति के साथ धीरे-धीरे मानव ने अपनी भावनाओं का नग्न-प्रदर्शन संयत कर लिया और अब वह सभ्य रूप में संयमित अभिव्यक्ति करता है। यही संयमित अभिव्यक्ति नाटकों का आदि स्रोत मानी जाती है।'⁵⁷

डॉ० महेन्द्र भानावत लोकनाट्यों के उद्भव में लोकजीवन के सहज संस्कारों को ही कारण मानते हुए लिखते हैं— 'लोकजीवन के सहज संस्कार ही लोकनाट्यों के सहज स्रोत होते हैं। आपसी हेल—मेल, धार्मिक अनुष्ठान, मेले—ठेले, वार—त्योहार, फसल के प्रारम्भ अथवा समाप्ति की सुखोनुभूति आदि लोकानुरंजन के ऐसे मूलभूत बिन्दु हैं, जिनसे लोकनाट्यों की अंतःसलिला प्रस्फुटित होती है। गाना, बजाना, नाचना सामूहिक जीवन की सरलतम प्रवृत्ति रही है, इसलिए जहाँ कहीं भी कोई वर्ग अथवा समुदाय एकत्र होता है, वहाँ कई संस्कृतियों की विराट परम्पराएँ अपने चैतन्य को आत्मसात करती हुई अपनी आत्मा का विस्तार पाती है। आत्मा का यही विस्तार धीरे—धीरे सामूहिक अभिव्यक्ति का एक ऐसा आडम्बरहीन जनमंच प्रस्तुत कर पाता है, जहाँ जन—संस्कृति और जनमंगल के समस्त क्रियाकल्प, मान्यताएँ, विश्वास—धर्म और श्रुतियाँ अपने जनपदीय आनन्दोल्लासों का खुलकर प्रदर्शन करती हैं। लोकनाट्यों का यह स्रोत सामूहिक जीवन से बनता, जुड़ता और विकास पाता हुआ अपनी रूढ़ परम्पराओं तथा प्रकृतियों को सुरक्षित रखता है। इनके सृजन, प्रणयन, प्रयोग तथा प्रवर्तन में विशिष्ट समाज का कोई योग नहीं रहता।'⁵⁸

लोकनाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिये गये उपर्युक्त मतों एवं तर्कों के अतिरिक्त राजस्थान के बहुप्रसिद्ध लोक कलाकार श्री देवीलाल सामर का कथन है कि आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व मनुष्य वैदिक ऋचाओं की घटनाओं को वृक्ष की सशक्त छालों, पशुओं के चमड़ों, दीवारों तथा कपड़ों पर विविध रंगों से चित्रित करता था। बाद में ये चित्र विशिष्ट व्यावसायिकों द्वारा जनता के समक्ष प्रस्तुत किये जाने लगे। चित्रपटों द्वारा युग पुरुषों के जीवन का अंकन करने की प्रथा बंगाल, बिहार, उत्तर—प्रदेश आदि प्रदेशों में यमपुरी नाटक या यमपट्टा के रूप में आज भी विद्यमान हैं। इस यम—पट्टे में पाप कर्म करने वालों को यम द्वारा दी गई सजाओं का अंकन किया जाता है। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में इन चित्रपटों का सनखा नाम से उल्लेख मिलता है।

नाट्य का यह स्वरूप सहस्राधिक वर्षों तक जनता का मनोरंजन करता रहा, परन्तु उसमें अंकित चित्र स्वयं गतिमान होकर पात्र रूप में अभिनय करने में असमर्थ थे। परिचालक इस अभाव की पूर्ति स्वयं नाच—गाकर करता था। चित्रांकित महापुरुषों को गतिमान करने के लिए सर्वप्रथम हमारे देश में चमड़े पर रंगीन चित्र बनाकर उन्हें काटकर बाँस की खपच्चियों पर बाँधकर तथा सामने से रोशनी फेंकते हुए संचालित किया जाता था। बाद में इसमें थोड़ा सुधार कर ऐसी व्यवस्था की गई कि परिचालक छिपकर संचालित करता था और इसी के परिणामस्वरूप हमारे देश में छाया—पुतलियों का प्रादुर्भाव हुआ। ये छाया—पुतलियाँ भी प्रत्यक्ष सामने न आकर उनकी छाया सामने

आती थी, इसलिए ये छायायें नाना रंगों में परदे पर अंकित होती थीं और उनके अंग-प्रत्यंगों को नाना प्रकार से गतिमान होते देखकर दर्शकगण आनन्द विभोर हो जाते थे।

इन छाया पुतलियों की चपटी आकृतियों पर वेशभूषा भी नहीं पहनाई जा सकती, उनके पृष्ठभाग दर्शकों को दृष्टिगत नहीं हो सकते थे। इन चपटी पुतलियों के संचालन तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण नाट्याभिव्यंजन असम्भव समझकर ही मूर्तिनुमा काष्ठ पुतलियों की परम्परा हमारे देश में प्रारम्भ हुई। इन काष्ठ पुतलियों द्वारा जो नाट्य रचनाएँ हुई वे ही वास्तव में मानवीय नाट्य का पूर्णांगी स्वरूप ग्रहण कर सकीं। इसी मानवीय नाट्य में विभिन्न प्रकार की भावमूलक अवस्थाओं को व्यंजित करने के लिए लकड़ी तथा कागज के मुखौटों का विकास हुआ। मानवीय नाट्य की मुखौटा प्रणाली अनेक वर्षों तक कायम रही। इन चेहरों के साथ अभिनय करने की परम्परा आज भी बिहार के छाऊ नृत्यों में अपनी सम्पूर्ण साज-सज्जा के साथ विद्यमान है।⁵⁹

इस प्रकार सामर जी के अनुसार लोकनाट्य एक लम्बी यात्रा कर उद्भूत हुआ है। इसकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा हमारे देश में विद्यमान रही है। डॉ० कीथ ने 'संस्कृत ड्रामा' में इस तथ्य को स्पष्ट भी किया है कि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के आधार के लिए कदाचित् इन ग्रामीण क्षेत्रों से सामग्री ली थी।⁶⁰ भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के 14वें अध्याय में लोकधर्मी नाट्य कृतियों की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

स्वभावोपगतं शुद्धं त्वावकृतं तथा, लोकवार्ता क्रियोपेतमंगलीलाविवर्जितम्।।

स्वभाभिनयोपितं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम्, यदीदृशं भवेनाट्यं लोकधर्मी तु सास्मृता।।⁶¹

यद्यपि संस्कृत में इन लोकपरक नाट्यों के उदाहरण नहीं प्राप्त होते हैं, फिर भी रूपक के दस भेदों में से कुछ भेद समवकार, व्यायोग, प्रहसन, भाण आदि को लोकशैली का नाट्य रूपक माना जा सकता है। इतना होने पर भी यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि विशाल संस्कृत साहित्य में उपरूपकों के उदाहरण स्वरूप एक भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। संभवतः ये लोकनाट्य के रूप में उस समय जीवित थे। इसमें 'समवकार' नामक रूपक सात-आठ घण्टों में खेला जाता था। इन नाटकों को लोकनाट्य समझना ही अधिक संगत जान पड़ता है, क्योंकि जनता की अपार भीड़ वहाँ लगी रहती है। इस सन्दर्भ में भोजपुरी क्षेत्र के प्रसिद्ध लोक कलाकार भिखारी ठाकुर के अभिनयों का उल्लेख सम्मान के साथ किया जा सकता है, जिनके लोकनाट्य 'विदेसिया' या 'बेटी-बेचवा' को देखने के लिए भोजपुरी भाषा-भाषी जनता की अपार भीड़ टूट पड़ती थी और सूर्यास्त से सूर्योदय तक नाटक का रसास्वदन करती थी।

स्पष्ट है कि लोकनाट्य स्थान और काल भेद से विविध रूप में प्रदर्शित होते रहे हैं और वे चिरकाल से अद्यावधि लोकमानस को अनुप्राणित करने में पूर्णरूपेण समर्थ रहे हैं। इनकी अक्षुण्ण रसधारा काल के व्यवधानों को चीरती हुई अद्यतन बह रही है।

लोकनाट्य की विशेषताएँ

लोक-साहित्य की अन्य विधाओं यथा- लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा और लोकोक्ति आदि की भाँति लोकनाट्यों के सम्बन्ध में भी अधिकांश विद्वानों की यही मान्यता है कि उनका कोई एक व्यक्ति रचयिता नहीं होता है। श्री देवीलाल सामर का मत है कि 'अन्य लोककलाओं की तरह ही किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार स्वरूप होता है। उसमें जन-जीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिच्छाया होती है तथा नाटक की सफलता-असफलता का भागीदार समस्त समाज होता है।'⁶² सामर जी का तर्क है कि लोकगीत किसी व्यक्ति की प्रतिभा की उपज होता है, जो कालान्तर में अन्य अनेक सामाजिक प्रतिभाओं के योगदान से सामूहिक रचना के रूप में लोकगीतों का दर्जा प्राप्त करता है। उनके अनुसार लोकनाटक प्रारम्भ से ही समाज की सामूहिक उपज होता है। इस प्रकार लोकनाट्य की संरचना में व्यक्ति की अपेक्षा समूह की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। कोई धार्मिक, पौराणिक या ऐतिहासिक वृत्तान्त या कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व जब समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को प्रभावित करता है तो उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में चतुर्दिक नाटकीय विषयवस्तु का रचाव आरम्भ हो जाता है। ऐसे नाटकों में यह पता नहीं चलता है कि उसके गीत किसने लिखे हैं तथा कथा-प्रसंग का चयन किसने किया है, किन्तु लोकनाट्य जहाँ एक सीमा विशेष में अज्ञात रचयिताओं की देन है, वहीं अभिनय के धरातल पर वह व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से पुनर्नवीन होता रहता है। वास्तव में सर्वप्रथम समाज की आकांक्षा के अनुरूप कोई एक कलाकार निर्दिष्ट विषयवस्तु को नाट्य रूप प्रदान करने में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग करता है, किन्तु अभिनय के क्रम में आगे चलकर मूल रचना और अभिव्यक्ति के समस्त उपादान संशोधनों-परिवर्द्धनों के कारण बदल जाते हैं। तब व्यक्ति की रचना तिरोहित हो जाती है और उसके स्थान पर सामूहिक कृति का चिर-गतिशील रूप ही आगामी प्रतिभाओं और अभिनेताओं के स्पर्श की प्रतीक्षा में पुनर्नवीनता के लिए अवशिष्ट रह जाता है। परम्परा से चले आते हुए लोकनाट्यों के छन्द, बोल, अभिनय, प्रस्तुतीकरण, गायन-नर्तन आदि को पकड़कर कुछ रचनाकार भी नाट्य रचना करने लगते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा रचित नाटकों को भी साहित्यिक नाटक की कोटि में न रखकर लोकनाटक ही मान सकते हैं। श्री देवीलाल

सामर ने इस सम्बन्ध में भी अपना विचार स्पष्ट करते हुए कहा है— 'उनके गीत, कवित्त आदि परम्परागत धुनों तथा छन्दों में ही रचे जाते हैं। उनकी नाट्य प्रस्तुतीकरण की शैली भी वही होती है। केवल विषय का चुनाव रचयिता अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। यद्यपि उनकी रचना—विधि सामाजिक कसौटी पर नहीं उतरी है, फिर भी उनमें पारम्परिक तथा शैलीगत साम्य होने के नाते उन्हें भी विद्वानों ने लोकनाट्य ही माना है।'⁶³ श्री सामर जी के मतानुसार लोकनाटकों के अनुकरण पर व्यक्ति द्वारा रचित नाटकों को विद्वानों द्वारा लोकनाटक के रूप में मान्य किये जाने पर भी उन्हें अधिक से अधिक कृत्रिम लोकनाटक ही मानना चाहिए। ऐसे नाटक पुस्तकाकार प्रकाशित होकर निश्चित रूप में सीमित और स्थिर (स्टैटिक) हो जाते हैं, तब इनको गतिशील (डायनामिक) और विकासात्मक कैसे माना जा सकता है, इसके अभाव में ये तब तक सच्चे लोकनाटक की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते, जब तक लोक—प्रतिभाओं, कलाकारों और अभिनेताओं की पुनर्प्रस्तुति और पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया में आकर सामूहिकता की सिद्धि न प्राप्त कर ले तथा मौखिक एवं स्वच्छन्द परम्परा के प्रवाह में मूल रचनाकार के व्यक्तित्व को विसर्जित न कर दें। अतः इन कृत्रिम लोकनाटकों को वास्तविक लोकनाटक के रूप में परिवर्तित होने के लिए समय की अपेक्षा रहती है। ये लोक—कलाकारों की सामूहिक प्रतिभा का स्पर्श पाकर ही अपने परिवर्तित एवं विकासात्मक रूप—सिद्धि द्वारा कालान्तर में तो वास्तविक लोक—नाटक बन जाते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के लोकप्रिय कलाकार भिखारी ठाकुर द्वारा रचित एवं अभिनीत सभी नाटक इसी आधार पर लोकनाट्य ही कहलाएंगे, यद्यपि इनमें पारम्परिक या अनुष्ठानिक नाट्यों की सी स्थिति नहीं है, फिर भी लोकरूचि की सही पकड़ होने, शैलीगत परम्परा का निर्वाह करने और निरंतर परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रिया ग्रहण करने के कारण ये लोकनाट्य ही कहलाएंगे। इसी प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश में श्री कृष्ण पहलवान, तिरमोहन लाल आदि के द्वारा लिखी गई नौटंकीयाँ लोकनाट्य की संगीत परम्परा के अन्तर्गत आती हैं। पिछले 100 वर्षों में रचित राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्य (ख्याल) ऐसे हैं, जिनके साथ विशिष्ट लेखक जुड़े हैं और जिनके नामों से ही उनके ख्याल चलते हैं। मध्यप्रदेश के माच और तुरा—कलंगी के अनेक खेल ऐसे हैं, जिन पर विशिष्ट लेखकों के नाम अंकित हैं। महाराष्ट्र में भी कई तमाशे विशिष्ट लेखकों द्वारा लिखे गये हैं, लेकिन ये सभी समय के लम्बे अन्तराल में लोक—कलाकारों की सामूहिक प्रतिभा से संवरित एवं परिवर्तित होकर सच्चे लोकनाट्य परम्परा की वस्तु बन गये हैं।

परिभाषा की कसौटी पर यदि लोकनाट्य की सही परख की जाय तो विशुद्ध लोकनाट्य उन्हें ही कहना चाहिए, जिनकी रचना से किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं

जुड़ा रहता है, जिसके कथा प्रसंग जनमानस पर युगों से अंकित रहते हैं, जो लिखित रूप में न होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी से अभिनय करने वालों के कण्ठों में निवास करता है, जिसके कथानक सर्वविदित, धार्मिक या पौराणिक आख्यान लिये रहते हैं। यह जन-समाज के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करने या संदेश देने या विशुद्ध मनोरंजन के लिए ही प्रस्तुत किया जाता है। इसकी परम्परा बहुत पुरानी होती है, थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ इसके विभिन्न रूप देश के हर भाग में अपनी क्षेत्रीय बोली में प्रस्तुत किये जाते हैं। राजस्थान का गवरी ऐसा ही लोकनाट्य है। भोजपुरी क्षेत्र में प्रसिद्ध गोंड़ऊ नाच, डोमकच आदि को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

परन्तु लोकनाट्यों के लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है कि वे जनमानस के निमित्त कोई धार्मिक या सामाजिक आदर्श ही उपस्थित करे। उनमें कभी-कभी सामाजिक आदर्शों की उपेक्षा भी देखने को मिलती है। इनके प्रस्तुतीकरण में प्रायः विकृत श्रृंगार या अश्लीलता का सहारा भी लिया जाता है। मर्यादा और आदर्श की परवाह न करते हुए, हल्के मनोरंजन के द्वारा दर्शकों को मुग्ध कर देने की स्थिति भी देखने को मिलती है। इन नाटकों के कथानकों में ऐसे तत्त्वों को भी प्रस्तुत किया जाता है, जिनको सभ्य समाज हेय दृष्टि से देखता है, लेकिन वहाँ लोकनाट्यों का चहेता वर्ग ऐसे नाटकों के इन तत्त्वों पर अनायास ही आकर्षित एवं मुग्ध हो जाता है और उनके साथ अपनी कुप्रवृत्तियों और कुचेष्टाओं को विभिन्न संकेतों एवं मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करता है, इसीलिए लोकनाट्य में अभिनय करने वाली कुलटा नारी सती स्त्री से कहीं अधिक लोकप्रिय बन जाती है। लुटेरा पात्र ईमानदार पात्र से अधिक पसन्द किया जाता है। इश्कमिजाज नौजवान पात्र चरित्रवान युवक पात्र से अधिक स्नेह का अधिकारी हो जाता है, विवाहित स्त्री पात्र से कहीं अधिक स्वेच्छाचारिणी एवं मनचली स्त्री पात्र दर्शकों का मन मोह लेती है। तिरमोहन लाल, श्रीकृष्ण पहलवान आदि के द्वारा लिखी गई नौटंकीयों के बहुत से पात्र ऐसे ही हैं। रात-रात भर असंख्य जनता इन नाटकों के प्रदर्शन का लाभ लेती है, उनकी स्वरलहरियों तथा नृत्यभंगिमाओं से आत्मविभोर हो जाती है। इन नाटकों का दर्शक पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता है। पतिव्रता दर्शक स्त्रियाँ भ्रष्ट नाट्य पात्र को घृणा से नहीं देखती है। सच्चरित्र व्यक्ति आचरणहीन पात्र को घृणा से नहीं देखता, क्योंकि वह जानता है कि यह सारा आख्यान कल्पित है, केवल मनोरंजन के लिये है तथा समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करके मनुष्य को सावधान करने के लिए है।

वास्तव में लोक नाटक के समस्त तत्त्व लोक के अच्छे-बुरे चित्रों, कुप्रवृत्तियों, कुत्साओं, कुण्ठाओं, हीनताओं, कुशीतियों, अनाचारों आदि समाज के नाना प्रकार के

संस्कारों से गृहीत होकर संगठित होते हैं। उसकी रचना का दृष्टिकोण स्वभावतः यथार्थवादी किंवा यथातथ्यवादी होता है। उसमें किसी प्रकार का अस्वाभाविक और कृत्रिम आरोप नहीं होता। सामाजिक जीवन का जैसा परम्परागत स्वरूप होता है, बिना किसी बनाव-चुनाव के वैसा ही अनगढ़ तथा बेढूंगा स्वरूप उसमें व्यक्त होता है और लोक अभिनेताओं की कला-कुशलता द्वारा स्वच्छन्द रीति से प्रदर्शित होने पर प्रत्यक्ष हो उठता है। उसमें लोकजीवन के सत् एवं असत्य पक्ष को प्रस्तुत करने की आकांक्षा अधिक रहती है। ऐसे नाटक आदर्श निरपेक्ष होते हुए भी लोकजन के चित्त को द्रवित करने में समर्थ होते हैं तथा उनके कुत्सित चरित्र भी जनता की रुचि की अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं। लोकनाट्य की विशेषताओं को इंगित करते हुए कुछ विद्वानों ने शास्त्रीय नाटकों के शिल्प को ध्यान में रखा है। वस्तुतः शास्त्रीय नाटक की कसौटी पर लोकनाट्य की परख की ही नहीं जा सकती। जिस प्रकार लोकनाट्य साहित्यिक नाटक से भिन्न होता है, उसी प्रकार उसके परखने की कसौटी भी भिन्न होती है। किसी स्थल पर कविगुरु रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि लोकसाहित्य की आलोचना लक्षण-ग्रन्थों की सहायता से करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार घर की कुलवधू को कटघरे में खड़ी कर जिरह कराना। इसी आधार पर श्री जगदीशचन्द्र माथुर जैसे रससिद्ध सफल नाटककार हैं, जिन्होंने अपने एक निबन्ध में लोकनाट्य की निम्नलिखित विशेषताएँ लक्षित की हैं –

(1) लोक रंगमंच समूह या समाज की अनुभूतियों, भावनाओं एवं प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना करता है, व्यक्ति की कल्पना और अनुभवों की नहीं। समूह की स्वाभाविक भाषा गद्य नहीं काव्य है, क्योंकि काव्य की अप्रस्तुत योजना में समूह की कल्पना का साधारणीकरण होता है, इसीलिए लोकनाटकों में पात्र पद्य अथवा काव्यात्मक गद्य में बोलते हैं।

(2) लोकमंच के पात्र भी प्रायः (टाइप्स) या प्रवृत्ति विशेष या समूह विशेष के द्योतक होते हैं। उन पात्रों की स्थूल विशेषतायें तो जानी जा सकती हैं, किन्तु उनमें व्यक्तिगत और बारीक भेद को खोजना व्यर्थ है, क्योंकि एक तरह के पात्र एक से अधिक नाटकों में तत्सम रूप में ही मिलते हैं। सौत, पापिष्ठा भौजाई, विरक्त पति, कुटनी, नई पत्नी का गुलाम पति, खुशामदी दरबारी, बूढ़ा दूल्हा इत्यादि ऐसे ही पात्रों के उदाहरण हैं।

(3) लोकमंच प्रायः खुला होता है। पट-परिवर्तन का विधान शायद ही किसी लोक रंगमंच में होता हो। पृष्ठभूमि में अक्सर एक पर्दा टँगा रहता है, जिसके पीछे

से पात्र आते हैं। ऐसे रंगमंच के नाटकों के दृश्यों का आदि-अन्त न होकर तौंता बँधा रहता है और गीति-नृत्य, वार्ता इत्यादि के द्वारा दर्शकों का ध्यान बँटा रहता है।

(4) लोक रंगमंच के अभिनय में संकेतों (सिम्बल्स) का उपयोग इस रीति से किया जाता है कि बहुत सी बातें बिना बोलचाल के दर्शकों की समझ में आ जाती है।

(5) लोक रंगमंच पर प्रायः नाटक का कोई शुद्ध रूप नहीं टिक पाता। पौराणिक अथवा रामकथा से ली गई रासलीलाओं और रामलीलाओं में भी मनसुखा जैसे विदूषक समसामयिक घटनाओं का समावेश करते हैं। प्रेम कथाओं में विरह या संयोग श्रृंगार के मर्मस्पर्शी अभिनय के बीच-बीच में या तो आदर्श जीवन सम्बन्धी तथ्यों का उपेक्षात्मक निरूपण होता है या सम-सामयिक विषमताओं का दुखड़ा रोया जाता या उच्च वर्गों पर छींटे कसे जाते हैं।

(6) लोकनाटकों में कथानक (प्लाट) प्रायः ढीला-ढाला होता है और पूर्वाद्ध में जितनी विलम्बित गति से कथा बढ़ती है, उत्तराद्ध में उतनी ही द्रुत गति और अस्वाभाविक गति से घटनाओं को ढकेला जाता है, किन्तु इससे अधिक कलात्मक वे लोकनाट्य होते हैं, जिनमें घटनाओं के शिल्पविधान के स्थान पर जीवन की झँकियों की लड़ी होती है, अथवा जिसमें पौराणिक और धार्मिक कथाओं का पूर्वपरिचित प्रदर्शन होता है। जो भी हो, लोक-रंगमंच के दर्शक कथानक की आशा नहीं करते। वे प्रायः पहले से ही कथा से परिचित होते हैं और इसीलिए कथा से प्राप्त मनोरंजन उनका लक्ष्य नहीं होता, बल्कि रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति।

(7) लोक रंगमंच में नाटक मंडली का प्रत्येक सदस्य लगभग हरेक काम कर सकता है और करता ही है। वहाँ निर्देशक (डाइरेक्टर) अभिनेता भी होता है। अभिनेता वस्त्राभूषणों का विधायक हो सकता है। नर्तक और गायक अभिनेताओं से भिन्न नहीं होते। आज का विदूषक कल का हीरो बनने के लिए प्रस्तुत रहता है। नाटक मंडली एक कुटुम्ब की तरह काम करती है।

(8) इस रंगमंच के नाटकों में 'लोकजीवन' के रीति-रिवाजों और उत्सवों जैसे-विवाह, तिलक, उपनयन, रोपनी, फाग इत्यादि का उल्लेख प्रायः किया जाता है और कई नाटक तो ऐसे अवसरों पर प्रदर्शित करने के लिए ही लिखे जाते हैं।⁶⁴

ऊपर की पंक्तियों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने यद्यपि लोकनाट्य की मूलभूत विशेषताओं पर सारगर्भित ढंग से प्रकाश डाला है, फिर भी नाटकीय शिल्प—विधान एवं लोकवार्ता की दृष्टि से लोकनाट्य की विशेषताओं को निम्नलिखित संदर्भों में रखा जा सकता है।

कथानक

लोकनाट्यकार कथानक का कोई भी बन्धन नहीं मानता। उसके कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक या सामाजिक विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित हो सकते हैं। वह किसी लोककथा, घटना या कल्पना से भी नाटक का कथानक तैयार कर लेता है। लोकनाट्यकार का उद्देश्य इतिहास कहना नहीं, अपितु भावाभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उसका कथानक इतिहास सिद्ध न होते हुए भी अमर रहता है। लोकनाट्यकार का उद्देश्य समाज—सापेक्ष रहता है। इसीलिए, इन नाटकों के कथानक में जमींदारों का अत्याचार, भाई—भाई के झगड़े, पुरुषों की कामान्धता तथा उनकी शिकार स्त्रियों का प्रसंग अधिक देखने को मिलता है। लोकनाट्यों में समाज की अस्वस्थ और दुःखदायी स्थिति को जनता के सम्मुख नाट्य रूप में प्रस्तुत करने का उद्देश्य सुधार एवं आत्मदर्शन ही रहता है। इनमें जमींदारों, साहूकारों, मिल—मालिकों, राजा—महाराजाओं आदि वास्तविक चरित्रों का वर्णन रहता है। ग्रामीण किसान, पूँजीपति, साहूकार और मिल—मालिक के यातना भरे चंगुल में जकड़ा रहता है। इसका हृदयद्रावक चित्रण लोकनाट्यों में देखने को मिलता है।

बहुत से लोकनाट्यों का विषय—विन्यास प्रेमपरक घटनाओं पर आधारित होता है। प्रेम मानव—जीवन की शाश्वत अनुभूति है। इसी से सम्बन्धित त्याग, सुख, दुख, सहानुभूति, ईर्ष्या आदि का दर्शन इन नाटकों में होता है। इन प्रेमपरक घटनाओं से सम्बन्धित लोकनाट्यों में नैतिक एवं सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन तथा अतिक्रमण दिखाई देता है। प्रायः ऐसी ही घटनाएँ देखने को मिलती हैं, जिनमें अनेक संघर्षों के पश्चात् अन्त में विजय सच्चे प्रेम की ही होती है। भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित भिखारी ठाकुर के 'विदेसिया' नाटक की शैली पर रचित अनेक लोकनाट्यों का विषय—विन्यास ऐसा ही है।

लोकनाट्यों के कथानक के सम्बन्ध में डॉ० श्याम परमार ने एक स्थान पर लिखा है— 'लोकनाटकों के कथानकों में एक प्रकार की कसावट का अभाव पाया जाता है। लोकबुद्धि, शिल्प—कौशल के परिष्कृत स्तर तक पहुँची हुई नहीं होती, फिर रूढ़स्वरूपों

के प्रति धीरे-धीरे दर्शक और अभिनेता दोनों में एक ऐसा समझौता हो जाता है कि बिना कथानक की कसावट के भी कथा अपनी सहज गति से खुलती जाती है।⁶⁵

पात्र

लोकनाटक के पात्रों में स्थानीय या आंचलिक विशिष्टता होती है। प्रायः लोकनाट्य का हर पात्र किसी सामाजिक-प्रवृत्ति विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। ये पात्र जाने-पहिचाने एवं समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों के वाहक होते हैं। खूसट बुढ़ड़ा, सौत, दुर्गुणी पति, ढोंगी साधु, कर्कशा औरत आदि ऐसे ही पात्र हैं। लोकनाट्यों में शास्त्रीय नाट्य की तरह पात्रों के उच्चादर्श की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। इसीलिए, लोकनाट्य का नायक आदर्शवादी भी हो सकता है और चोर, लम्पट या दुराचारी भी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दुश्चरित्र पात्रों का अन्त में अपकर्ष तथा सत्यवादी और न्यायपरायण सच्चरित्र पात्रों का उत्कर्ष दिखलाया जाता है। लोकनाट्यों में पात्रों का बाहुल्य नहीं होता है। उपनायक और उपनायिकाओं की स्थिति लगभग नहीं के बराबर होती है। कुछ लोकनाट्य तो ऐसे भी हैं, जिनमें नायक और नायिका के अलावा अन्य कोई पात्र रहता ही नहीं है। साहित्यिक और शिष्ट नाटक की यह विशेषता होती है कि उसमें कुपात्रों के लिए दर्शक के मन में घृणा एवं सत्पात्रों के लिए सहानुभूति की भावना होती है, किन्तु लोकनाट्यों के साथ ऐसी स्थिति नहीं है। यदि कोई कुपात्र भी अपनी मनोरंजनात्मक अभिव्यक्ति में दर्शकों का मन जीत लेता है तो अनायास ही उसकी ओर दर्शकों का आकर्षण हो जाता है। इसीलिए, लोकनाट्यों में दुश्चरित्र पात्र भी जनता की सहानुभूति सहज ही प्राप्त कर लेता है। 'लोकनाट्यों में नाट्य-पात्रों के चारित्रिक गुण अधिक महत्त्व नहीं रखते। उनके वैयक्तिक मानवीय गुणों की छाप पात्रों के चारित्रिक गुणों से अधिक गहरी होती है। यदि कोई दुश्चरित्र, अन्यायी तथा अत्याचारी पात्र है, परन्तु देखने में सुन्दर, नाचने में पटु तथा गाने में मनोमुग्धकारी है तो वह अनायास ही दर्शकों के दिल का राजा बन जाता है।'⁶⁶ लोकनाट्यों में स्त्रियों का अभिनय प्रायः पुरुष ही किया करते हैं। अब कुछ लोकनाट्य मण्डलियों ने साधारण जनता को आकर्षित करने तथा धन कमाने के लिए इन नाटकों में लड़कियों का उपयोग प्रारम्भ कर दिया है।

रूप-योजना एवं प्रसाधन

लोकनाट्यों के पात्रों के बनाव-सिंगार के लिए अलंकार एवं भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती। कोयला, काजल, खड़िया, गेरू, मुर्दासिंगी आदि साधनों से मुँह पोतकर रंगीन बिन्दुओं से मुखमण्डल अलंकृत कर मुखौटे लगाकर और रंगीन वस्त्र

पहनकर पात्र रंगस्थली में प्रवेश करता है। वेशभूषा प्रायः साधारण ही हुआ करती है। पुरुष पात्रों के पहनावे स्थिति के अनुकूल धोती, अंगरखा, मिरजई, कोट, फटा पतलून, छड़ी, हैट, टोपी, साफा, पगड़ी तथा स्त्री पात्रों के पहनावे में घाघरा, साड़ी, ब्लाउज आदि मुख्य रूप से रहता है। पहनावे के बदलने से ही पात्र क्षण में राजा या फकीर के रूप में मंच पर उपस्थित हो जाता है। स्वांग आदि लोकनाट्यों में पुरुष चूड़ीदार पाजामा, अचकन पहनते हैं। कहते हैं कि भिखारी ठाकुर तो अपने नाटकों के अभिनय के समय स्त्री का अभिनय करने वाले पात्रों को सोने और चाँदी के असली आभूषण भी पहनाते थे।

लोकनाट्यों के वेश-विन्यास की यह विशेषता है कि इसमें सम्पूर्ण वेश को उभारना आवश्यक नहीं माना जाता है। पात्र की पोशाक के किसी एक मुख्य अंश को प्रस्तुत करने मात्र से सम्पूर्ण पोशाक एवं व्यक्तित्व का भान हो जाता है। रामलीला के रावण को केवल दशमुख वाला मुखौटा ही पहिनना पर्याप्त है। शरीर के नीचे चाहे वह जो कुछ पहने। कृष्ण लीला का मनसुखा नीचे से पूरा पुरुष है, परन्तु जब वह एक छोटी सी ओढ़नी अपने सिर पर डाल लेता है, तो वह जसोदा माई बन जाता है।

लोकनाट्यों में प्रायः मुख-विन्यास में प्रतीकात्मकता का सहारा लिया जाता है। जैसे राक्षस पात्रों के मुख पर काले एवं लाल रंग की प्रधानता रहती है। उनके दाँत बाहर निकले होते हैं, सिर पर सींग दिखलाये जाते हैं। अच्छे आचरण वाले एवं देवी शक्तियों वाले पात्रों का श्वेत, पीले एवं हरे रंग का मुख विन्यास होता है। इन रंगों के लिए हल्दी, चन्दन, सिन्दूर तथा मुर्दासिंगी आदि का प्रयोग होता है।

संगीत एवं नृत्य योजना

संगीत एवं नृत्य लोकनाट्यों की शक्ति एवं प्रभाव के संवर्द्धनकारी प्रमुख तत्त्व हैं। हुड़का, मृदंग, ढोलक, झाँझ मंजीरे, करताल, बाँसुरी, चिंकारा, नगारा, सारंगी, हारमोनियम, एकतारा, घड़ा, फूल की थाली, कटोरदान आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग लोकनाट्यों में होता है। संगीत की शैली आँचलिकता से प्रभावित होती है। तेज स्वर और ताल की ध्वनि और वाद्यों का सामूहिक तुमुल घोष दर्शकों को और नाटक-कर्मियों दोनों को प्रभावित करता है। संवादों के काव्यात्मक बोल बिना वाद्य यंत्रों के खुलते ही नहीं। कुछ वाद्य तो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बजते रहते हैं। हर लोकनाट्य के साथ अपने-अपने विशिष्ट साजों का क्रम बँधा हुआ रहता है, साथ ही उनके बजाने आदि की विधि भी सैकड़ों वर्ष के प्रयोग से रूढ़ हो गई है। उदाहरणार्थ भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित 'गोंडऊ नाच' के प्रारम्भ में हुड़का देर तक बजता रहता है। सांग प्रारम्भ होने से पहले बहुत देर तक नगाड़ा बजता रहता है, जिससे सब दर्शकों को ज्ञात हो जाता है कि अमुक स्थान पर सांग होने

वाला है, फिर भी लोकनाट्यों में संगीत वाद्यों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि पात्रों के कण्ठों का है। जो संगीत वाद्य बजते हैं वे संगत के लिये या नाटक के कथा-विन्यास को प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ाने के लिए होते हैं। मूलतः पात्र का कण्ठ ही नाटक को प्रभावकारी बनाने के लिए अधिक उत्तरदायी है।

नृत्य भी संगीत की भाँति लोकनाट्यों का प्राण-तत्त्व होता है। स्वयं भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में गीत, नृत्य एवं वाद्य की समान महत्ता नाटक के लिए लक्षित की है। जिस प्रकार वाद्य यंत्रों के द्वारा दृश्यान्तर प्रस्तुत किया जाता है, उसी प्रकार नृत्य भी लोकनाट्यों में संवाद को आयत्त कर लेता है। प्रायः प्रत्येक लोकनाट्य में इसीलिए नृत्य की प्रधानता रहती है। किसी-किसी लोकनाट्य में नर्तक नाचते-नाचते इतना तन्मय हो जाता है कि लगता है गीति ही नृत्य बन गया है या नृत्य ही गीत। इस सम्बन्ध में श्री देवीलाल सामार की ये पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं— 'लोकनाट्यों की सबसे बड़ी धरोहर उनका संगीत एवं नृत्य पक्ष है। वह संवादों की संचरण शक्ति को बढ़ाता है तथा शब्दों की व्यंजनाओं में चार-चाँद लगाता है। वह ऐसा पक्ष है जो अभिव्यंजित पदों को श्रोताओं के स्मृति पटल पर लम्बे समय तक स्थापित कर देता है।'⁶⁷

मंच व्यवस्था

लोकनाटकों का मंच जन-जीवन के बीच का खुला क्षेत्र है। गली-गलियारे, नदी-नाले, वन-पर्वत, खेत-खलिहान, द्वार-उपवन कहीं भी यह स्वतः रच उठता है। इस मंच के लिए न तो किसी साज-सज्जा की तैयारी करनी पड़ती और न किसी प्रकार के विशेष साज-सामान के जुटाने की आवश्यकता ही रहती है। गाँव-घर में उपलब्ध सामानों से मंच व्यवस्था सम्पन्न कर ली जाती है। 'न इसमें पट-परिवर्तन की अपेक्षा है, न दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता। वही चारों ओर से दर्शक खिंचित मंचपीठ राजमहल है, दीन की कुटी अथवा गृहस्थ का घर है। वही दूसरे ही क्षण विदेश हो गया, राजसभा, युद्धभूमि हो गई और विरह भूमि मिलन-मन्दिर में परिणत हो गया। जैसे महादर्पण को ज्यों-ज्यों घुमाइये, त्यों-त्यों उसमें विराट-जीवन की बहुरंगी प्रतिच्छवि अपने आप खिंचती चलती है। ठीक उसी प्रकार लोक रंगमंच की, उसके अनौपचारिक, आग्रहहीन मंचपीठ और अन्ततः उसके सहज रंगमंच की प्रकृति है। लोकनाट्य और उसके रंगमंच का दर्शक केवल दर्शक ही नहीं है, वह उस रंगमंच का अभिन्न भाग भी है, उसका संरक्षण और रस-रंजक दोनों।'⁶⁸

लोकनाट्य के रंगमंच के स्वरूप के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह

दर्शकों की उपस्थिति और तात्कालिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर जैसे-तैसे मुहैया किया जाता है। जब दर्शकों की संख्या अधिक रहने का अनुमान होता है तो रंगमंच ऊँचा ही बनाया जाता है, नहीं तो समतल भूमि पर दरी या जाजिम बिछाकर अभिनय सम्पन्न कर लिया जाता है। लोकनाट्यों में कहीं-कहीं रंगीन परदों का भी प्रयोग होता है और कुछ में एक चादर तानकर या बिना चादर ताने ही अभिनय आरम्भ हो जाता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोकनाट्य 'डोमकच' तथा उत्तर बिहार के चम्पारन इत्यादि क्षेत्रों का प्रसिद्ध लोकनाट्य 'जट-जटिन' बिना चादर ताने ही पूरा हो जाता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि लोकनाट्यों के रंगमंचीय उपकरण प्रायः अनौपचारिक, सरल एवं लोकपक्षीय होते हैं। रामलीला में जब राम और लक्ष्मण को गंगा पार करना पड़ता है, तो गंगा माई दर्शाने वाले परदे की आवश्यकता नहीं होती। एक कपड़े को थामें दो आदमी आर-पार बैठ जाते हैं, जिसे हिलाने मात्र से बहती हुई गंगा का आभास होने लगता है। लोकनाट्यों में विशद रंगमंचीय उपकरणों की इसीलिए आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि बहुत सी बातों की कल्पना दर्शक प्रकरण एवं सन्दर्भ के अनुसार स्वतः कर लेता है। मीलों लम्बी दूरी रंगमंच पर ही दो-बार चक्कर लगाने से प्रकट कर दी जा सकती है। नदी, पहाड़, झरना, गाँव, शहर, जंगल आदि मंच पर न दिखाकर वाचिक व्यवस्था द्वारा दर्शकों के मन में स्पष्ट कर दिये जाते हैं, इसीलिए लोकनाट्यों में परदे की कभी आवश्यकता नहीं समझी गई।

लोकनाट्यों में पात्रों के प्रवेश आदि के लिए भी किसी प्रकार के लुकाव-छिपाव की आवश्यकता नहीं रहती। उनका प्रवेश भी किसी पेड़ या छत पर से या दर्शकों के बीच से या रंगस्थली पर ही अचानक उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार का प्रवेश जहाँ बड़ा ही सहज लगता है, वहीं बड़ा आकर्षक भी होता है। लोकनाट्यों की इस विशेषता को अब तो आधुनिक शिष्ट नाटक भी अपना रहे हैं। लोकनाट्यों के इसी रंगमंचीय अनौपचारिकता का संकेत डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने भी इस प्रकार किया है— 'लोक रंगमंच में कुछ भी कहीं से भी औपचारिकता नहीं है। यहाँ तक कि प्रवेश और प्रस्थान भी अनौपचारिक हैं। सब कुछ मान लिया हुआ, सबकी सजीव परिकल्पना पूरी की हुई। सब कुछ इतना यथार्थ, इतना यथार्थ कि सबसे यथार्थ का भ्रम ही उठ जाय और दर्शक उसका अविच्छिन्न अंश होकर उसमें जैसे रंगरत हो जाये, क्योंकि लोकमंच पर वह जो कुछ देख रहा है, वह सब कुछ जैसे अपनी यथार्थ प्रतिच्छवि देख रहा है और उसके जीवन की जो क्षति थी, शायद वह वहाँ पूर्ति पा रही हो।'⁶⁹

लोकनाट्यों के अभिनय के समय रंगमंच की निर्मिति के पूर्व रंगमंच स्थापन का

अनुष्ठान आवश्यक समझा जाता है। यद्यपि यह स्थिति देश के हर भाग के लोकनाट्यों पर लागू नहीं होती है। रंगमंच स्थापना के अनुष्ठान के पीछे लोकनाट्य संचालकों का यही विश्वास कार्य करता है कि नाटक की निर्विघ्न सम्पन्नता सम्भव हो सके। उसके बाद कुछ संचालक टोने-टोटके भी करते हैं, यह सब लोकनाट्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए किया जाता है।

लोकनाट्य के मंचीय व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ० सत्येन्द्र ने कुछ संकेत दिया है, जो इस प्रकार है— 1. स्थापन का अनुष्ठान, 2. रंगमंच का स्वरूप, 3. नेपथ्य का स्वरूप, 4. रंगमंच की सज्जा, 5. प्रकाश-विधान, 6. वादित्र, 7. अभिनय प्रकार, 8. भूल-मार्जन के साधन (प्रांटर), 9. आरम्भ और उसकी शैली, 10. अन्त और उसकी शैली।⁷⁰

अभिनय

‘लोकनाट्यों’ में अभिनय का स्वर एक ओर तो सामूहिक मनोभावों एवं संवेदनाओं को रूपायित करने में लगा रहता है और दूसरी ओर उसके अभिनय में हाव-भाव, मुद्रायें आदि ही मनोभावों को व्यक्त करती हैं। भाषा के स्थान पर मौन रहकर पात्र संकेतों एवं आंगिक चेष्टाओं से ही अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति करते हैं।⁷¹ भरतमुनि के अनुसार, अभिनय के चार प्रकार हैं, सात्विक, कायिक, वाचिक और आहार्य। इनमें से आहार्य और सात्विक का उपयोग लोकनाट्यों में नहीं होता है। हाँ, आंगिक और वाचिक अभिनय का उपयोग किया जाता है। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत ही हाव-भाव और मुद्रायें आती हैं, जिनका प्रचुर प्रयोग लोकनाट्यों में होता है। यह अभिनय एकाकी न होकर प्रायः गीत और नृत्य के साथ सम्पन्न होता है। वाचिक अभिनय में ही नाटक की सम्पूर्ण सफलता केन्द्रित रहती है। लोकनाट्यों में पात्रों के वाचिक अभिनयों पर काव्यात्मकता छापी रहती है। यदि कहीं गद्य का प्रयोग होता भी है तो केवल वार्ता आदि के रूप में कथानक की सूचना देने के लिए ही। श्रृंगारपूर्ण स्थलों पर कुछ अश्लील एवं भोंड़ी भाव-भंगिमायें तक अभिनय में आ जाती हैं, फिर भी लोकनाट्य की रस-वर्षिणी धारा के बीच में ये तिरोहित हो जाते हैं और दर्शक पर इन भोंड़ी भाव-भंगिमाओं का कोई असर नहीं पड़ता है।

लोकवार्ता का समावेश

‘लोकवार्ता’, परम्परागत मान्यतायें, रीति-रिवाज, अभिप्राय, लोकविश्वास आदि तत्त्व लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध रहते हैं। आँचलिकता इनमें सोलह आना भरी हुई है।⁷² देश के किसी भी भाग का लोकनाट्य

हो, उसमें क्षेत्रीय कथा-कहानियाँ, क्षेत्रीय अन्धविश्वास, टोना-टोटका, भाषिक अभिव्यक्तियाँ, लोकोक्तियाँ, रीतियाँ, प्रथाएँ, कथन-भंगिमाएँ आदि लोकवार्ताएँ संश्लिष्ट रूप से विद्यमान रहती हैं। इतना ही नहीं, क्षेत्रीय लोकगीत, नृत्य, विभिन्न ध्वनियाँ एवं स्थानीय बोलियों के रोमांचकारी तथा आह्लादपरक ध्वनि प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। संवाद तो लोकनाट्य का महत्त्वपूर्ण पक्ष होता ही है, उससे जब स्थानीय लहजों और उक्तियों के ठेंठपन भरकर प्रस्तुत किया जाता है तो दर्शकों पर प्रभाव पड़ता है। विदूषक की उटपटांग बातों में भी स्थानीय लोकवार्ता की कथन भंगिमायें और उक्ति-वैचित्र्य सहज ही सम्मोहनकारी होता है।

लोकनाट्यों की लोकप्रियता के कारण

पिछले प्रकरण में लोक-नाटकों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे लोकनाट्यों की लोकप्रियता के मूलाधार हैं। ये लोकनाट्य जन-साधारण का मनोरंजन करने की क्षमता तो रखते ही हैं, साथ ही मानव की संवेदनाओं को भी मार्मिक अभिव्यक्ति देने में सक्षम हैं। इसीलिए, जन-साधारण अपने आपको इनके अधिक निकट पाता है। लोकनाट्य वास्तव में सहज मानव जीवन से ही जीवन-रस पाते हैं, इसलिए उनकी आत्मा का लोकनाट्यों के दर्शकों की आत्मा के साथ ऐसा सहज तादात्म्य हो जाता है, जिससे दर्शक और प्रदर्शक का भेद समाप्त हो जाता है। लोकनाट्यों का निर्माण लोकजीवन से छनकर होता है। डब्ल्यू० वी० यीट्स के शब्दों में- 'वह धरती ही है, जिसमें सभी उच्च कलाओं की जड़ें समाहित हैं।'⁷³ लोकनाट्य पृथ्वी-पुत्र की भावनाओं की समुचित अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए भी सामान्य दर्शक लोकनाट्यों की प्रकृति में एक रस होकर रुचिपूर्वक सुनता-देखता है। लोकनाट्यों का संगीत पक्ष भी दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करता है। नौटंकी के नगाड़े की कर्कश तुमुल ध्वनि कानों में आई नहीं कि दर्शकों के कदम उधर उठ जाते हैं। चमरऊ नाच का मृदंग और गोंड़ऊ नाच का हुड़का बजा नहीं कि भोजपुरी किसान रंगस्थली की ओर बढ़ चला। लोकनाट्य का सबसे आकर्षक पक्ष है उसका नृत्य विधान। नर्तक की अद्भुत कलाबाजी, कटि संचालन एवं विद्युत गति के समान संचालित होने वाले पैरों की थिरकन को देखने के लिए दूर-दूर से दर्शक उमड़ पड़ते हैं। एक ओर जहाँ शिष्ट नाटक निश्चित मर्यादाओं के भीतर नफासत के साथ प्रस्तुत किया जाता है, वहीं लोकनाट्य इतना सहज एवं अकृत्रिम ढंग से प्रस्तुत होता है कि उसमें डूबने में सर्वसाधारण दर्शकों को देर नहीं लगती। क्षेत्रीय लोकबोली का प्रयोग, पात्रों की उल्लासपूर्ण भाव मुद्रायें, लोकसंगीत लहरी का सन्निवेश, नृत्य की प्रस्तुति, लोक गायकों का ऊँचा स्वर आदि सभी तत्त्व मिलकर दर्शकों का मन गुद-गुदाहट से भर देते हैं। इन सबसे ऊपर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनके

प्रदर्शन के समय दर्शक और प्रदर्शक एकाकार एकरस हो जाते हैं। इसकी औपचारिकता ही इसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

लोकनाट्य का संसार लोक है, प्रकारान्तर से कहें तो गाँव—देहात है, जहाँ वह पैदा हुआ है, जहाँ के भूमि की सोंधी गंध उसे जीवन रस प्रदान करती रही है तथा जहाँ का दर्शक समाज उसे प्रोत्साहित कर संवर्द्धित करता रहा है, किन्तु दुःख है कि आज उल्टी स्थिति हो गई है। लोकनाट्यों का अभिनय करने वाली अधिकांश व्यावसायिक मंडलियाँ शहरों में निवास करती हैं। उदाहरण के लिए बंगाल के प्रसिद्ध लोकनाट्य जात्रा का अभिनय करने वाली अधिकांश मंडलियाँ कोलकाता में निवास करती हैं, जहाँ से वे प्रदर्शन हेतु गाँवों या बंगाल के अन्य नगरों में जाती हैं। नौटंकी लोकनाट्य का अभिनय करने वाली बहुत सी मंडलियाँ कानपुर या लखनऊ में रहती हैं, जहाँ से वे विवाह—शादी के अवसर पर प्रदर्शन हेतु दूर—दूर तक जाती हैं, या मेले इत्यादि में जाकर अपना प्रदर्शन दिखाती हैं। शहरों में रहने वाली ये व्यावसायिक मण्डलियाँ धीरे—धीरे अपने प्रिय गामीण दर्शकों की रुचि को विस्मृत करती जा रही हैं, जबकि ये दर्शक सदियों से चले आ रहे लोकनाटकों की परम्परा के ही अंग हैं।

दूसरी ओर लोकनाट्यों, नौटंकियों, किस्सों और गीतिनाट्यों को छापने वाले प्रकाशक मूल रचना की कोई परवाह नहीं करते। वे गाँव के पाठकों के लिए इन्हें धड़ा—धड़ छापकर बेचने की कोशिश करते हैं, जिनमें लगभग आधा तीतर और आधा बटेर की स्थिति रहती है। इससे न केवल मूल लोकनाट्य की आत्मा का ही हनन होता है, वरन् शिष्ट समाज के मन में लोकनाट्य के प्रति रुचि समाप्त हो रही है। फलतः हमारी रंग—चेतना की यह धरती सिमटती जा रही है।

लोकनाट्य के सम्बन्ध में शिष्ट समाज के दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए डॉ० श्याम परमार ने कहा है— 'अभी तक लोकमंच को भद्दी चीज समझा जाता रहा है, जिन्होंने महत्त्व भी दिया है तो केवल फैशन समझकर। जिस तरह कि काटेज इम्पोरियम में रखी किसी ग्रामीण शिल्प—कृति को ड्राइंग रूम की शोभा के लिए खरीद कर रख दिया हो। उच्च—मध्यवर्गीय समाज की यह दृष्टि एक तरह से लोकमंच के उत्थान के लिए सतही रही है। देहाती मंच को जिस तरह सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता थी, वह उसको नहीं मिला, क्योंकि शहरी दर्शक परिष्कृत चीजों में बिक सकते हैं, शर्त यही है कि उन्हें प्लास्टिक की थैलियों में दिया जाय।'⁷⁴ लोकनाट्य जो आनन्द और उल्लास के अवसरों पर सामूहिक अभिव्यक्ति के अनुकरण का परिणाम रहा है, आज बदले हुए परिवेश में अपनी मूल चेतना से अलग—थलग पड़ गया है। इनमें जहाँ एक

ओर लोक-प्रचलित रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, विश्वास, कथा-आख्यान एवं लोकसंस्कृति की झलक मिलती थी, वहीं दूसरी ओर लोकमानस की रसवती धारा भी बहती दिखती थी। आज उसे एक नई उष्मा की आवश्यकता है। डॉ० श्याम परमार के ही शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि, 'उसे सहानुभूति चाहिए अच्छे कलाकारों की, जो देहाती चीज समझकर उससे दूर न भागे। उन्हें अपने हाथों सँवारकर जरा वे देखें तो सही कि कैसी चीज बनती है। देहाती कलाकार बेचारा अपने आप कुछ कर नहीं सकेगा। उसे उबारना होगा। उसे सहारा देकर तो देखिये, वह आपकी मरती हुई कला में भी जान फूँक सकता है। घर की डूबती हुई स्थिति में पुराना धन ही काम आता है।'⁷⁵ एक ओर विश्व के कई प्रसिद्ध नाटककारों ने अपने नाटकों की भावभूमि के लिए लोकनाटकों से प्रेरक स्थल प्राप्त किये हैं, वहीं हम अपने लोकनाट्यों के प्रति उपेक्षा का व्यवहार कर रहे हैं। 20वीं सदी के दूसरे दशक के प्रसिद्ध रूसी निर्माता येवगिनी वखतानगेव ने मास्को में अपना एक थिएटर स्थापित किया, जिसमें उन्होंने नाटकों के प्रस्तुतीकरण में बड़े कल्पनाशील प्रयोग किये। सन् 1922 ई० में उन्होंने "राजकुमारी तुरनदत्त" नाम का नाटक प्रदर्शित किया। दर्शकों पर यह व्यक्त करने के लिए कि वे जीवन का कोई यथार्थ चित्र नहीं देख रहे हैं, बल्कि नाटक देख रहे हैं, उसने पात्रों के चेहरों पर नकली दाढ़ी-मूँछों के स्थान पर काली रस्सियाँ और मोटी खुरदरी भौहें लगाई और रंगदार मुखौटों का प्रयोग किया।

लोकनाट्यों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए श्री बलवन्त गार्गी ने एक स्थान पर लिखा है— 'लोकगीतों ने वर्तमान कविता में रस भरा है। अफ्रीकी गुफाओं में अंकित चित्रों ने बीसवीं सदी की मूर्तिकला को बल प्रदान किया है। लोकचित्रों ने आधुनिक चित्रकला को रंगों और रेखाओं की शक्ति से परिचित कराया है। लोकनाटक के पास भी शहरी रंगमंच को देने के लिए बहुत-कुछ है।'⁷⁶ लोकनाट्यों के इस व्यापक महत्त्व को देखते हुए इन पर शोध करने की महती आवश्यकता है। हमारे पास लोकनाट्यों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी का अभाव है। देश में कितने प्रकार के लोकनाट्य हैं। इनके अध्ययन की ओर दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए डॉ० सत्येन्द्र का यह सुझाव अत्यन्त वांछनीय है, 'लोकनाट्य सम्बन्धी सामग्री को एकत्र कर उसके विश्लेषणपूर्वक अध्ययन में न केवल वस्तु, कथा आदि के स्रोतों की छानबीन ही अपेक्षित है, वरन् उन तत्त्वों का अनुसंधान भी अपेक्षित है, जिनसे इनमें वह लोकप्रियता आती है कि हजारों मनुष्य बिना ऊबे सुनते रहते हैं। इनमें लोकवार्ता के तत्त्वों का कवि के द्वारा किस प्रकार प्रयोग किया गया है, यह अनुसंधान भी अपेक्षित है।

संदर्भ

1. साहित्यालोचन : डॉ० श्याम सुन्दर दास, पृ०-119।
2. लोकनाट्य परम्परा एवं प्रवृत्तियाँ : डॉ० महेन्द्र भानावत, पृ०-04।
3. लोकरंग, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, पृ०-04।
4. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य : डॉ० शंकर लाल यादव, पृ०-380।
5. भारतीय नाट्य परम्परा एवं अभिनय दर्पण : डॉ० वाचस्पति गैरोला, पृ०-118।
6. संस्कृत नाटक (कीथ), अनुवादक- डॉ० उदयभान सिंह, पृ०-15।
7. उपरिवत, पृ०-40।
8. लोकरंग : डॉ० महेन्द्र भानावत, पृ०-04।
9. संस्कृत नाटक, अनुवादक- डॉ० उदयभान सिंह, पृ०-373।
10. उपरिवत, पृ०-374।
11. उपरिवत, पृ०-377।
12. हिन्दी साहित्य का आदि काल : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-59।
13. उपरिवत, पृ०-100।
14. लोकरंग, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, डॉ० सत्येन्द्र की भूमिका, पृ०-15।
15. दि डान्स इन ड्रामा इन इण्डिया : फोबियन बोवर्स, 1953।
16. लोकरंग, डॉ० महेन्द्र भानावत का निबन्ध, पृ०-133।
17. प्राचीन भारतीय मनोरंजन : श्री मन्मथ राय, पृ०-46।
18. रामायण - 2/69/4।
19. विशेष विवरण के लिए देखें - यौगिक फोकलोर इन दि महाभारत, योग : इम्माटोलटी एण्ड फ्रीडम, मर्सिया एलियेड, पृ०-152-153 (ट्रान्स्लेटेड फ्रॉम फ्रेंच) पैन्थियन बुक, न्यूयार्क, 1958।
20. भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण : वाचस्पति गैरोला, पृ०-124।
21. हरिवंश, पर्व - 2/91/26।
22. उपरिवत, 2/29/32।
23. भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण : वाचस्पति गैरोला, पृ०-134।
24. पृथ्वीराज कपूर - अभिनन्दन ग्रन्थ, सं० देवदत्त शास्त्री, (बुद्धकालीन नाटक : राहुल सांस्कृत्यायन) पृ०-69।
25. धम्मपद - 4/59।
26. प्राचीन भारतीय मनोरंजन - मन्मथ राय, पृ०-57।
27. जातक - 3/189।
28. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०-69।
29. जातक - 3/61।
30. उपरिवत - 6/276।
31. प्राचीन भारतीय मनोरंजन : मन्मथ राय, पृ०-61।
32. कल्पसूत्र - 5/102।
33. औपपातिक, सूत्र - 38।
34. लोकरंग, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, पृ०-356।
35. आचरांग सूत्र, 11/10।
36. उपरिवत, 2/11/14।
37. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ०-49।
38. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिटरेचर, वाल्यूम-5, पृ०-23, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1910।
39. हिन्दुई साहित्य, अनुवादक- डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णीय, पृ०-34-35।

40. 'रास और रासान्वयी काव्य' में फागु परम्परा : डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० दशरथ शर्मा।
41. सांगीत एक लोकनाट्य परम्परा—रामनारायण लाल अग्रवाल, पृ०-18।
42. उपरिवत, पृ०-13-14।
43. परम्पराशील नाट्य : जगदीश चन्द्र माथुर, पृ०-04।
44. भारतीय नाट्य साहित्य, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ०-402।
45. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य : डॉ० शंकरलाल यादव, पृ०-381।
46. ए हिस्ट्री ऑफ ब्रजवुलि : डॉ० सुतुमार सेन।
47. परम्पराशील नाट्य : श्री जगदीश चन्द्र माथुर, पृ०-30।
48. सम्मेलन पत्रिका (लोकसंस्कृति विशेषांक), लोक रंगमंच का रूप और गठन, श्री जगदीश चन्द्र माथुर।
49. कबीर वचनावली : अयोध्या सिंह उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, नवां संस्करण, सन् 2003, पृ०-216।
50. जायसी ग्रन्थावली : पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० 2006, पृ०-275।
51. आइने अकबरी, वाल्यूम-3, पृ०-272, यदुनाथ सरकार।
52. सांगीत एक लोकनाट्य परम्परा : राम नारायण अग्रवाल, पृ०-23।
53. उपरिवत, पृ०-42।
54. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : डॉ० सोमनाथ गुप्त, पृ०-16।
55. लखनऊ का उर्दू स्टेज और ड्रामा : डॉ० महमूद हसन रिजवी, पृ०-49।
56. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, (सं० देवदत्त शास्त्री) हिन्दी लोकनाट्य : डॉ० रवीन्द्र भ्रमर, पृ०-10।
57. खड़ी बोली का लोकसाहित्य : डॉ० सत्या गुप्त, पृ०-302।
58. लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ : डॉ० महेन्द्र भानावत, पृ०-04।
59. लोकरंग, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, (लोकनाट्य उद्भव और विकास), देवीलाल सामर, पृ०-354।
60. संस्कृत नाटक, अनुवादक— डॉ० उदयभान सिंह, पृ०-68।
61. नाट्य शास्त्र -14/81-82।
62. लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ— श्री देवीलाल सामर, पृ०-194।
63. उपरिवत, पृ०-197।
64. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक), लोकरंगमंच का रूप और संगठन : श्री जगदीश चन्द्र माथुर, पृ०-356-57।
65. लोकधर्मी नाट्य परम्परा : डॉ० श्याम परमार, पृ०-10।
66. लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ : श्री देवीलाल सामर, पृ०-245।
67. भारतीय लोकनाट्य वस्तु और शिल्प : श्री देवीलाल सामर, पृ०-08।
68. रंगमंच और नाटक की भूमिका : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ०-41।
69. उपरिवत, पृ०-41।
70. लोक-साहित्य विज्ञान : डॉ० सत्येन्द्र, पृ०-431 (द्वितीय संशोधित संस्करण)।
71. लोकसाहित्य-सिद्धान्त और प्रयोग : डॉ० श्रीराम शर्मा, पृ०-110।
72. लोकधर्मी नाट्य परम्परा : डॉ० श्याम परमार, पृ०-11।
73. अर्ली पोयम्स एण्ड स्टोरीज, लन्दन, 1925।
74. लोकनाट्य-नये सन्दर्भ, (संपादिका-सुधा राजहंस), लोकनाट्यों की नई भूमि : डॉ० श्याम परमार, पृ०-29।
75. लोकनाट्य-नये सन्दर्भ (संपादिका-सुधा राजहंस), पृ०-29।
76. रंगमंच : बलवन्त गार्गी, पृ०-104।

भोजपुरी लोकधर्मी नाटकों का विकास

(1) धार्मिक लोकनाट्य – रामलीला

रामलीला अवध क्षेत्र का मुख्य लोकनाट्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका प्रस्तुतीकरण सर्वप्रथम काशी में किया गया और तब से आज तक काशी, रामनगर और भोजपुरी क्षेत्र के लगभग सभी नगरों में इसका अभिनय होता है, इसलिए रामलीला को भोजपुरी क्षेत्र का प्रमुख लोकनाट्य माना जा सकता है। भारतीय चिन्तन धारा में राम शील-शक्ति के पुंज हैं, परिणामतः भोजपुरी क्षेत्र की श्रद्धालु जनता भगवान राम की लीलाओं का अभिनय देखकर आनन्द विभोर होती है। श्रद्धालु जनता की इस भक्ति-भावना के कारण रामलीला धार्मिक-लोकनाट्य बन गई है।

रामलीला गीतिनाट्य है। इसके उद्गम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। श्री जगदीश चन्द्र माथुर इसकी उत्पत्ति रामायण के गायकों से मानते हैं। उनका मत है— 'लोकनाट्य का दूसरा उद्गम रामायण और महाभारत के उन गायकों में था, जिन्हें पाठक और धारक की संज्ञा दी गई है। सम्भवतः उन्हीं गायकों से भाटों की परम्परा चल निकली। इतना तो स्पष्ट है कि रामलीला और रासलीला की प्रेरणा शायद 'पाठक' और 'धारक' की वाणी से ही मिली हो।' स्पष्ट है कि रामायण के 'पाठक' और 'धारक' गायकों से रामलीला के अभिनय सूत्र मिले हुए हैं।

किन्तु भक्ति आन्दोलन के पूर्व रामलीला-प्रदर्शन के प्रमाण मिलते हैं। हरिवंश पुराण (500 ई0 पू0) में राम के चरित पर आधारित नाटक अभिनीत किये जाने का उल्लेख है। डॉ0 श्याम परमार लोकमंच की इस परम्परा को तुलसी के बहुत पूर्व वाल्मीकि के समय से मानते हैं। 'वाल्मीकि के समय वीर-पूजा के निमित्त गाये जाने वाले गीतों और अभिनय में रामकथा का प्रभाव था। लव-कुश तो रामकथा का गायन

ही करते थे। कदाचित इसीलिए 'कुशीलव' शब्द पूर्वकाल में गायक एवं अभिनेता के पर्याय स्वरूप स्वीकार किया गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामकथा को लिपिबद्ध करने के पूर्व लोकमंच पर राम की जीवन लीलाएँ प्रारम्भ हो गई थीं।²

श्री रामनारायण अग्रवाल के अनुसार वर्तमान युग में रामलीला का जो भारत व्यापी प्रचार है, उसकी आधारशिला गोस्वामी तुलसीदास ने काशी नगरी में रखी थी। उन्होंने बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'रामचरित मानस' (तृतीय संस्करण, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस, पृ०— 26) के प्रारम्भ में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन चरित का उल्लेख करते हुए बताया है कि वर्तमान शैली की रामलीला गोसाईं जी के समय से ही प्रारम्भ हुई है। श्री अग्रवाल के अनुसार यह लीला अस्सी (वाराणसी) पर आज भी होती है और गोसाईं जी के नाम से प्रसिद्ध हैं।³

अन्य मतों के अनुसार यद्यपि रामलीला के प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास थे, पर चित्रकूट की रामलीला के आदि प्रवर्तक मेधा भगत थे। मेधा भगत लगभग 400 साल पूर्व तुलसीदास जी के समय काशी में रहते थे। वे तुलसीदास जी के अनन्य सेवक और भक्त थे। गोस्वामी जी के महाप्रयाण के बाद मेधाभगत को असह्य वेदना हुई और वे बिना खाये—पीये संकटमोचन पर जाकर पड़ गये। वहाँ उन्हें अयोध्या जाने का दैवीय निर्देश मिला। अयोध्या में उन्हें स्वप्न में किसी ने कहा— 'कलिकाल में भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन दुर्लभ है, तुम काशी में जाओ, वहीं रामलीला का आयोजन करो। भरत मिलाप के समय तुमको भगवान का दर्शन प्राप्त होगा।' स्वप्न भंग के अनन्तर मेधा भगत तत्काल काशी चले आये। काशी में उन्होंने रामलीला का आयोजन किया। मेधा भगत की इसी रामलीला को चित्रकूट की रामलीला कहते हैं। इसी रामलीला का भरत—मिलाप नाटी इमली में प्रतिवर्ष सम्पन्न होता है।⁴

आज इस बात को जानने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि रामलीला के वर्तमान रूप के पूर्व उत्तरी भारत में यत्र—तत्र जो रामलीला होती थी, उसका सही रूप क्या था, परन्तु विभिन्न जनपदों की रामलीला के स्वरूपों का अध्ययन करने से इस अनुमान को बल मिलता है कि तुलसी से पूर्व जहाँ कहीं भी रामचरित का अभिनय न्यूनाधिक रूप में प्रचलित था, उसका रूप गीति—नाट्य जैसा रहा होगा। स्थानीय धार्मिक प्रवृत्ति के कवियों ने रामकथा को भजनों के रूप में पद्यबद्ध कर रखा था और रामलीला के पात्र, वेशभूषा धारण कर उन भजनों के संवाद रूप में गायन द्वारा ही रामलीला का प्रदर्शन करते थे। रामलीला की यह परम्परा आज भी उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ क्षेत्र में बड़े विकसित रूप में उपलब्ध होती है।⁵

काशी नगरी और रामलीला

जनश्रुति है कि काशी में तुलसी ने एक अभिनय मण्डली रामलीला के नाम से प्रारम्भ की, जिसमें कुछ सदस्य रामायण का पाठ करते और साथ ही अभिनय भी होता चलता था। रामलीला के इतने अधिक प्रचार का कारण है, उसमें निहित धार्मिक भावना और उसका लोकरंजनकारी स्वरूप। चूँकि, इसके पूर्व 1532 के आसपास वल्लभाचार्य ने प्राचीन ग्रन्थियों के कृष्ण अभिनय को रासलीला के रूप में प्रचारित कर गीति-नाट्य की परम्परा स्थापित की थी। जिसका लोकजीवन में अत्यधिक प्रचार था। सम्भवतः अपने पूर्व प्रचलित रासलीला से प्रभावित होकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला का प्रारम्भ किया हो।

रामलीला का व्यापक प्रचार भोजपुरी क्षेत्र में 18वीं शताब्दी के आस-पास हुआ। इस सम्बन्ध में माथुर जी का निष्कर्ष है कि, 'महाभारत की भाँति रामायण के चरित्र साहित्यिक रचना से पूर्व लोक रंगमंच में आविर्भूत हुआ या नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है किन्तु रामचरित्र मध्य युग से लोकरंगमंच की प्रमुख प्रेरणाओं में रहा है और 18वीं शताब्दी के अन्त में रामलीला के काशी में प्रदर्शन का जो विवरण प्रिंसेप नामक अंग्रेज विद्वान ने छोड़ा है, उससे उत्तरी भारत के लोक रंगमंच की तत्कालीन सजीवता का अच्छा परिचय मिलता है।'⁶

काशी भोजपुरी क्षेत्र की प्रसिद्ध नगरी है। गोस्वामी जी की साधना भूमि होने के कारण यहाँ की रामलीला सम्पूर्ण भोजपुरी क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रसिद्ध है। यों तो काशी के मुहल्ले-मुहल्ले में रामलीलायें होती हैं, किन्तु यहाँ की तीन रामलीलायें प्राचीन और प्रसिद्ध हैं। पहली रामलीला अस्सी की, दूसरी लाटभैरव की और तीसरी चित्रकूट की रामलीला है। अस्सी रामलीला की लीला भूमि बहुत ही विस्तृत है। अस्सी से सोनारपुरा तक की भूमि अयोध्या मानी जाती है और अयोध्या में घटित रामचरित्र की रामलीलायें इसी क्षेत्र में स्थित स्थलों पर होती हैं। इस रामलीला में दुर्गाकुण्ड भगवान राम को नौका पार कराने में गंगा जी की भूमिका निर्वाह करता है। भगवान राम के वनगमन का दृश्य दुर्गाकुण्ड से संकटमोचन के पिछवाड़े होते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तक प्रस्तुत किया जाता है। विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार से कुछ ही दूरी पर पंचवटी की लीलायें होती हैं। लंका काण्ड की घटना लंका मुहल्ले में सम्पन्न होती है। इस मुहल्ले की विशेषता है कि रामायण में वर्णित लंका के समान त्रिभुजाकार बसा हुआ है। यहाँ राम और रावण के सिंहासन, विभीषण कूप और जानकी मन्दिर आदि कई प्रसिद्ध मन्दिर हैं। जो गोस्वामी जी के काल में ही निर्मित कहे जाते हैं।

काशी की दूसरी प्राचीन लीला, 'लाट भैरव की लीला' है। इस लीला के आयोजकों का कहना है कि यही गोस्वामी जी द्वारा सम्पादित काशी की प्रथम रामलीला है। इस रामलीला को काशी में बड़ी ही भव्यता के साथ सम्पन्न किया जाता है। तीसरी प्रसिद्ध रामलीला काशी के चित्रकूट की रामलीला है। कहते हैं कि गोस्वामी जी के प्रिय भक्त मेधा भगत ने इसको प्रारम्भ किया था। इसीलिए इसे मेधा भगत की रामलीला कहते हैं। 'चित्रकूट की रामलीला' के नाम से प्रसिद्ध एक महीना चलने वाली इस लीला के कुछ प्रकरण तथा दृश्य 'सबरी मंगल', 'रामेश्वर स्थापना', 'गिरिसुमेर की झाँकी', 'विजयादशमी की लीला' और भरत-मिलाप अतिप्रसिद्ध है। 'विजयादशमी' की लीला चौकाघाट पर और सबरी मंगल की लीला पिशाच मोचन पर होती है। यद्यपि विजयादशमी की लीला में अब उतनी भीड़-भाड़ नहीं होती, तो भी काशी के अग्रवाल, गुजराती, खण्डेलवाल और प्रतिष्ठित रईसों में भगवान राम का रथ कन्धे पर उठाने के लिए होड़ सी लग जाती है। इस रामलीला का भरत-मिलाप पूरे काशी में बहुत प्रसिद्ध है। दो-तीन मिनट में सम्पन्न की जाने वाली भरत-मिलाप की इस लीला को देखने के लिए एक स्थान और समय में तीन लाख से अधिक लोगों की भीड़ अब भी नाटी इमली में एकत्र होती है। सबसे पुरानी चार सौ साल से काशी में प्रचलित कही जाने वाली चित्रकूट की रामलीला का यह भरत-मिलाप आज भी लाखों लोगों की अपार श्रद्धा और आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है।⁷ इस भरत-मिलाप के विषय में कहा जाता है कि इसे देखकर 1868 ई0 में पादरी श्री मैक फर्सन ने व्यंग्य में कहा था कि रामायण के हनुमान तो समुद्र लौंघ गये थे, क्या लीला वाला हनुमान इस नदी को लौंघ नहीं सकता। लीला में हनुमान बने पात्र को यह व्यंग्य चुभ गया और आवेश में पलक झपकते ही छल्लाँग लगाकर वे नदी के उस पार पहुँच गये। अंग्रेज अधिकारी और पादरी मैक फर्सन स्तब्ध रह गये। लीला में पराक्रमी हनुमान की भूमिका प्रस्तुत करने वाले उक्त पात्र श्री टेकरामजी ने भरत-मिलाप की लीला में राम की झाँकी देखने के बाद ही शरीर छोड़ा। तभी इस लीला का महत्त्व बढ़ गया और तभी से इस भरत-मिलाप की प्रसिद्धि हुई। श्री टेकराम की समाधि नाटी इमली में भरत-मिलाप स्थल से कुछ ही दूरी पर स्थित देखी जा सकती है।

रामनगर की रामलीला

काशी के पास गंगा पार रामनगर में खेली जाने वाली रामलीला समग्र भारत में ख्यात है। इसके आयोजन का समस्त व्यय रामनगर के महाराज वहन करते हैं। लगभग सात वर्ग किमी⁰ में रामलीला खेली जाती है। रामायण में घटित घटनाओं के मुख्य स्थल स्थाई मंच के रूप में हैं। जैसे अयोध्या, जनकपुरी, सरयू नदी, पंचवटी,

रणभूमि, लंका। जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है और अभिनय स्थल बदलता है, उसी क्रम में दर्शक भी साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। इस रामलीला के विभिन्न प्रकरणों के लिए चालीस दिन लगते हैं। कथाकार जिसे 'व्यास पंडित' कहते हैं, तुलसीदास रचित रामचरित मानस की चौपाइयाँ गाता है। जब कथाकार तुलसी की चौपाइयाँ गाता है, तो चतुर्दिक सन्नाटा छा जाता है। दर्शक धार्मिक भाव से अभिभूत हो बिल्कुल शान्त हो कथा का श्रवण करने लगते हैं। कथाकार का उच्च और गम्भीर स्वर वातावरण में गूँजता हुआ व्याप्त हो जाता है। मंच पर कलाकार अगले निर्देश की प्रतीक्षा में मूर्तिवत बैठे रहते हैं। जब कथाकार चौपाइयाँ गा चुकता है, तो कलाकार उनको स्थानीय भाषा के शब्दों में जो प्रायः अवधी मिश्रित भोजपुरी होती है, संवाद और अभिनय करते हैं।

जब दृश्य बदलता है— जैसे— अशोक वाटिका से रावण की सभा, तो दर्शकों को त्वरित गति से प्रकरण प्राप्त नये स्थान पर पहुँचना रहता है। सबसे पहले महाराजा का हाथी सूँड उठाकर सलामी देता है और चलने का संकेत करता है। हाथियों की पंक्तियों के बाद दर्शकों में भगदड़ सी मच जाती है और सब मनचाहे स्थान पाने के लिए दौड़ने लगते हैं। राम के अयोध्या से वनवास में जाते समय सरयू नदी पार करने का दृश्य बहुत मर्मस्पर्शी होता है। इस सात वर्गमील के घेरे में एक छोटी सी नदी बहती है, जिसे दर्शक वास्तविक सरयू मान लेते हैं। केवल राम, लक्ष्मण और सीता को नौका में बिठाकर नदी पार कराता है। नौका को दूर जाते देखकर किनारे पर खड़े दर्शक भावुकता में उसी प्रकार रो उठते हैं, जैसे राम के वनवास के समय अयोध्यावासी रो दिये थे। विजयादशमी के उत्सव पर रामलीला के मैदान में रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद के ऊँचे-ऊँचे पुतले खड़े किये जाते हैं। ये पुतले यांत्रिक व्यवस्था के कारण मुँह खोलते हैं, सिर हिलाते हैं और बड़ी-बड़ी आँखें घुमाते हैं। विजयादशमी के दिन राम की विजय और रावण की पराजय के उपरान्त रामलीला समाप्त होती है। कागज के पुतलों में आग लगा दी जाती है, आतिशबाजी के गोले छूटते हैं, आग की लपटें निकलती हैं और पुतले जल उठते हैं। लगभग पचीस हजार की भीड़ राम के विजयोपरान्त प्रसन्न मुख घर लौटती है। इस प्रकार का नाटकीय दृश्य जिसमें हजारों दर्शक नाटक का अंग बनकर उसके कार्य-व्यापारों में भाग लें और चमकते हुए मुकुट-मुखौटे और वस्त्रों में सज्जित सैकड़ों कलाकार खुले विशाल मंच पर चालीस दिन तक गीतों और कविताओं से गुम्फित नाटक को खेले, संसार में और कहीं नहीं मिलता।

रामलीला के समय काशिराज प्रतिदिन राम, लक्ष्मण और सीता की आरती उतारते

हैं। रामनगर में लगभग दो सौ वर्षों से रामलीला की यह परम्परा निर्बाध चली आ रही है। इसकी परम्परा क्यों और कैसे चली, इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति प्रचलित है? कहा जाता है कि अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व किसी दिन काशी के रुग्ण युवराज की चिन्त्य दशा होने के कारण महाराजा भगवान का दर्शन कर लौट जाने को उद्यत हुए। महाराजा की दशा देखकर लीला के आयोजकों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि भगवान राम की कृपा से युवराज का बाल भी बाँका नहीं होगा। आप निश्चिन्तता से पूरी लीला देखें। महाराजा ने ऐसा ही किया और वे जब लीला देखने के उपरान्त अपने किले में लौटे, तो यह देखकर उनको बड़ा विस्मय हुआ कि इस बीच युवराज की दशा में आशातीत सुधार हो चुका था और वे शीघ्र ही रोगमुक्त भी हो गये। इस घटना ने महाराज को रामलीला का अनन्य प्रेमी बना दिया और उन्होंने स्वयं रामनगर स्थित गंगा पार की रमणीक भूमि में राजसी सज-धज से रामलीला प्रारम्भ करायी, जो अद्यावधि इस देश की सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रसिद्ध रामलीला मानी जाती है।

रामलीला की परम्परा काशी के अतिरिक्त लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत के कोने-कोने में लोकमंच की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में प्रचलित है। इसके कलाकारों को विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कलाकारों को अव्यावसायिक आधार पर चुन करके और लीला के लिए कुछ दिन प्रशिक्षण देकर आश्विन मास में हर नगर और गाँव में आयोजकों द्वारा रामलीला प्रारम्भ कर दी जाती है।

रामलीला में रामचरित मानस का पाठ कहीं व्यास जी द्वारा होता है और उसी आधार पर पात्र अभिनय करते हैं, तो कहीं व्यास और उनकी मण्डली मँजीरे ढोलक पर रामचरित मानस का गायन करते दिखाई पड़ते हैं और उनकी व्याख्या व्यास जी करते चलते हैं, परन्तु अधिकांश राम-लीलाओं में मानस का पाठ तबले और हारमोनियम आदि साजों पर व्यास जी ही करते हैं और पात्र अभिनयपूर्वक उनका अनुगमन करते जाते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र के गाँव और कस्बों में आश्विन मास में जिस ढंग से रामलीला सम्पन्न होती है, वह दृश्य और श्रुत्य दोनों ही काव्यों का समवेत रस प्रदान करती है। मंच के एक ओर बैठकर व्यासजी रामचरित मानस का पाठ करते हैं, उसके आधार पर अभिनेतागण अपने हाव-भाव से कथा को दृश्यमान करते चलते हैं। कहीं-कहीं पाठक द्वारा पठित अंश को पात्र मंच पर अपनी भोजपुरी भाषा में संवादात्मक रूप में बोलते हुए अभिनय करते हैं।

लोकजीवन में भावों, तत्त्वों से परिपूर्ण रामलीला का यह रूप सभ्य समाज के हाथों से सँवारा नहीं गया और न आधुनिक उपकरण ही प्रयोग में लाये गये, तो भी सैकड़ों

वर्षों से प्रतिवर्ष लोकमानस के अन्तःस्थल को आप्लावित करती हुई लोकनाट्य की यह विधा लोकरंजन का साधन बनी हुई है। भोजपुरी क्षेत्र का लोकजीवन अपनी प्राचीन परम्पराओं, मान्यताओं और लोकविश्वासों में पुनरुरुज्जीवित और प्रतिष्ठित होता रहता है।

रामलीला में रावण की भूमिका खलनायक की है। वास्तव में वह आसुरी शक्तियों का प्रतीक है और उसकी पराजय तथा उसका दहन असत्य की ही पराजय है।

रामलीला का प्राचीन और परम्परागत रूप शुद्ध रूप से धार्मिक था। ग्राम्य समाज में लोग धार्मिक भावना से प्रेरित होकर रामलीला का अभिनय करते थे और दर्शक उसे देखना एक धार्मिक अनुष्ठान समझते थे। कालान्तर में रामलीला के व्यावसायिक दल बन गये।

यों तो सम्पूर्ण उत्तर भारत में रामलीला का प्रचलन है, किन्तु भोजपुरी क्षेत्र में लगभग सभी अंचलों और मुख्य स्थानों में इसका विशेष प्रचलन है। साधारणतया रामलीला के प्रति जन-मानस में श्रद्धा की भावना क्रियाशील रहती है, किन्तु रामलीला के दो स्थल भरत-मिलाप और राजगद्दी जनसमुदाय के विशेष आकर्षण केन्द्र हैं। भरत-मिलाप के अवसर पर राम, लक्ष्मण, सीता और राम के सेवक हनुमान की सवारी निकलती है और एक-एक द्वार पर उनका स्वागत होता है, आरती की जाती है। तत्पश्चात् एक निर्दिष्ट स्थल पर दोनों भाइयों का मिलन होता है। काशी में ऐसी कई सचल झांकियाँ तथा विमान विभिन्न मुहल्लों में निकलते हैं। यह दृश्य बड़ा ही मनोहारी होता है। इसी प्रकार राजगद्दी का उत्सव भी बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। सवारियाँ निकलती हैं और स्थान-स्थान पर चढ़ावे चढ़ते हैं। रामलीला मंचन की परम्परा भोजपुरी क्षेत्र में सामुदायिक और व्यावसायिक दोनों स्तर पर प्रचलित है। प्रस्तुत परिचय सामुदायिक या अव्यावसायिक स्तर पर चलने वाली लोकपरम्परा का है। व्यावसायिक स्तर पर रामलीला लीला-मण्डलियों द्वारा सम्पन्न होती है। दशहरे के अवसर पर अभिनीत होने वाले रामलीला अनुष्ठान पर अब बदलते समय की हवा ने गम्भीर परिणाम डाला है। अब लगभग लीला का आयोजन न करके दुर्गाजी की प्रतिमा रखी जा रही है और वहीं पर भगवती जागरण का गीत आयोजकों द्वारा कराया जाता है।

(2) जातीय नृत्य-नाट्य

लोकनृत्यों और लोकनाट्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों परस्पर पूरक हैं। उन्हें एक-दूसरे से अलग करना कठिन ही नहीं लोकरूचि को देखते हुए अव्यावहारिक भी

है। इसलिए लोकजीवन में प्रस्तुत होने वाले लगभग सभी प्रकार के लोकनाट्यों में लोकनृत्यों का होना अवश्यम्भावी है। नृत्य के अभाव में लोकनाट्य चल ही नहीं सकते, इसलिए यदि लोकनाट्य को नृत्य-नाट्य नाम दिया जाय तो अनुचित न होगा। लोकनाट्य से लोकनृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हुए आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी ने दोनों को परस्पर समाहित ही कर लिया है।⁸ भोजपुरी क्षेत्र में इस प्रकार के नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किये जाते हैं। उनके प्रदर्शन में जहाँ उनके शारीरिक श्रम का परिहार, मानसिक आह्लाद, सस्ता मनोरंजन एवं दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, वहीं समाज के अन्य वर्गों को मनोरंजन का एक माध्यम भी मिल जाता है।

भोजपुरी अंचल में जाति विशेष द्वारा ही क्यों नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किये जाते हैं, इसके मूल में निम्नलिखित कारण हो सकते हैं –

1. मध्यकाल में मुसलमानों द्वारा नृत्य और नाट्य को प्रोत्साहन न मिलने के कारण ये मन्दिरों और कुछ विशेष स्थानों तक ही सीमित रह गये। समाज के उच्च वर्ग के लिए इन विशेष स्थानों पर पहुँचना कठिन नहीं था। इस प्रकार वे अपना मनोरंजन धार्मिक एवं शिष्ट नाटकों द्वारा कर लेते थे, परन्तु निम्न वर्ग के लिए वहाँ जाना कठिन था। परिणामतः इन्होंने अपने मनोरंजन के लिए अन्य माध्यम ढूँढे, जिससे इनके जातीय नृत्य-नाट्य चल निकले। इस विषय में डॉ० सरोजनी रोहतगी का मत है— 'मुसलमानों के प्रभाव के कारण नाट्यकला पर धार्मिक निषेध बढ़ गया और समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ा। नृत्य-नाट्य कला को प्रोत्साहन मिला और नृत्यकला कुछ छोटी जातियों में ही सीमित रह गई।'⁹
2. समाज में कुछ जातियों को अपनी जीविका चलाने के लिए अति प्राचीन काल से घोर श्रम करना पड़ता था। श्रमजनित मानसिक व्यस्तता और शारीरिक थकावट के परिहारार्थ विभिन्न प्रकार के गीत, नृत्य और अभिनय करते रहे हैं। इस कारण भी इन नृत्य-नाट्यों का प्रचार अधिक हुआ है। इस प्रकार अति प्राचीन काल से चली आती नृत्य-नाट्य कला की लोकप्रवाही परम्परा धार्मिक-सांस्कृतिक विषयों से अनस्यूत रहती हुई मुख्यतः श्रमजीवी वर्ग के मानसिक-शारीरिक संताप एवं श्रमजनित थकान के परिहार हेतु प्रचलित होकर एक उपयोगितावादी अभिप्राय की पूर्ति करती रही। वास्तव में इन जातियों का यथार्थपरक आरम्भिक दृष्टिकोण उपयोगितावादी रहा है। यदि इन जातियों को आदिम मानवीय विचार तथा क्रिया परम्परा के अपेक्षाकृत निकटतम प्रतिनिधि रूप में माना जाय तो प्लेखनोव के इस निष्कर्ष को नृत्य-नाट्य कला के सन्दर्भ में

स्वीकार करना होगा कि आदिम समाजों में कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सदा उपयोगी सामाजिक उद्देश्य रहा है। इस प्रकार कला एक सामाजिक प्रक्रिया है।¹⁰ इस प्रकार से भोजपुरी नृत्य समन्वित लोकनाट्य धार्मिक रंग से रंगे होने पर भी विशिष्ट जातियों के सामाजिक उद्देश्य के अनुसार मनोरंजन के साधन हैं और इसी अर्थ में उनके अभिनय का अभिप्राय श्रमजनित थकान के परिहारार्थ सामूहिक मनोरंजन करना है।

भोजपुरी क्षेत्र में जातीय नृत्य-नाट्यों के कई रूप मिलते हैं। कुछ ऐसी जातियों के नृत्य-नाट्य हैं, जिनमें केवल नृत्य की प्रधानता होती है और संवाद लयात्मक अथवा गीतबद्ध होते हैं, जैसे धोबियों का नृत्य-नाट्य। कुछ जातियों में नृत्य के साथ वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है तथा बहुत थोड़ा अभिनय होता है, जैसे- अहीरों का फरी नृत्य। कुछ नृत्य-नाट्यों में संवाद गीत, वार्ता, अभिनय एवं कथानक सभी की प्रधानता होती है, जैसे गोंडू नाच आदि। खटकिन या गवनिहारिन की नाच में अभिनय, नृत्य और गीत की प्रधानता होती है, जिसके बीच-बीच में अश्लील और श्रृंगारिक वार्ताएँ भी चलती रहती हैं। दुसाध जाति की अपने इष्टदेव की एक पारम्परिक पूजा होती है, जिसमें अनुष्ठान के समय एक अभिनय का रूप खड़ा हो जाता है, जिसे 'राहुपूजा' और 'मधु-धूस' कहते हैं। नट जाति के जीविकोपार्जन का साधन ही है विभिन्न प्रकार के स्वांग-तमाशा दिखाना।

भोजपुरी क्षेत्र में जिन नृत्य-नाट्यों का बाहुल्य है, उसमें से कुछ प्रमुख का विवरणात्मक परिचय नीचे दिया जा रहा है।

गोंडू नाच

गोंडों के नाच को 'गोंडू नाच' कहते हैं। गाजीपुर और बलिया जनपद में गोंडू नाम बहुत लोकप्रिय है। इसे ही आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर और बस्ती में 'कंहरू नाच' भी कहते हैं, क्योंकि इन जनपदों में गोंडू कहार के पर्याय हैं। यद्यपि यह गोंडों का जातीय नृत्य है, किन्तु भोजपुरी क्षेत्र में अन्य जातियाँ भी विवाह के अवसर पर भाँड़ के नाच के स्थान पर गोंडू नाच ले जाने में अपना सम्मान समझती हैं।

भोजपुरी जनपद में अधिकांश जातीय स्वांग कोमल या ललित नृत्य प्रधान हैं, जबकि गोंडू नाच में उद्धत नृत्य का प्रयोग होता है। यह नृत्य अपने उद्दण्ड प्रदर्शन के कारण शिव के ताण्डव नृत्य से प्रभावित माना जाता है। हुड़का इनका मुख्य वाद्य है, जो शिव के डमरू के समतुल्य है। गोंडू अपने इस नृत्यमय स्वांग का प्रवर्तक भगवान

शंकर को ही मानते हैं। गोंड़ऊ नाच का आरम्भ कब से हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित प्रमाण का अभाव है।

इसको प्रभावकारी ढंग से प्रदर्शित करने के लिए बारह व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। एक आदमी हुड़का बजाने वाला, चार जोड़ी बजाने वाले, दो झाल बजाने वाले, तीन किशोर बालक नाचने वाले, दो आदमी हरबोलिया (विदूषक) का काम करने वाले, एक मशाल दिखाने के लिए चाहिए।

सर्वप्रथम सभी पात्र रंगस्थल पर जाकर बीच में मशाल रखकर आराधना करते हैं। श्री गणेश आराध्य देव को एक चिलम गोंजा समर्पित करके नाच शुरू होती है। प्रारम्भ में सभी कलाकार एक साथ बैठकर डीह बाँधते हैं। डीह बाँधने के समय निम्नलिखित भजन का पाठ करते हैं –

तुम्हरी सरनियाँ मनावों डिहवा बाबा, डिहवा बाबा हो नइयाँ नाहीं जाने लीं तुहार,
नइयाँ त जनती बाबा चउरा हो बन्हवती, पूजिहें नगरिया के लोग।
तर बान्हों धरती, ऊपर आकाश, ताही नीचे नटुवा करेला निवाश,
ओझवा के बान्हों बाबा गुनवाँ, अवगुनवाँ, टोनहिन के बन्हिहें लिलार,
कहवाँ के हुरका तुहरो जनमवाँ, कहवाँ लिहले अवतार,
ओही रे निसुज बन हमरो जनमवाँ, कुँडलिया घरवाँ लिहले अवतार।
जब हो कुँडलिया मइया कुड़वा पर चढवले, रंग दीहले सकल शरीर।
कथिया शोभेला सोनवाँ के सिकरिया, कथिया रेशमवाँ के डोर,
हुरूका के शोभेला सोनवाँ के सिकरिया, मजुरवा रेशमवाँ के डोर।।

डीह बाँधने का सम्बन्ध उस अभिनय स्थान से है, जहाँ पर ये स्वांग प्रदर्शित होते हैं और उसका उद्देश्य है दैवी और अतिप्राकृतिक बाधाओं से उसे सुरक्षित करना। तत्पश्चात् नृत्य और गीत के सहयोग से सम्पूर्ण स्वांग को आद्यन्त कुशल-क्षेम से निभाने के लिए पृथ्वी माता, गंगा और विष्णु आदि देवी-देवताओं की विनती की जाती है। इसी प्रकार ग्राम के देवी-देवताओं की प्रार्थना भी की जाती है। सुमिरन के बाद पैसारी प्रारम्भ होती है। इसमें स्वांग करने वाले कलाकार खड़े होकर समवेत स्तर में गीत गाते हैं और नर्तक नाचते हैं। हरबोलिया अपनी बोली में अनाप-शनाप भद्दी बातें बोलता रहता है। ये हरेक को सम्बोधित कर छेड़ता तथा भद्दे मजाक करता है। इसीलिए इसे हरबोलिया कहते हैं। इसकी हर बोली अत्यन्त अश्लील होती है, जिसे लिपिबद्ध करना उचित नहीं लगता।

नृत्य के साथ ही मुख्य स्वांग शुरू होता है, जिसमें काली माई की पूजा, भस्मासुर, बनरा—बनरी, पगला—पगली, कृष्ण भगवान की लीला, बूढ़ा—बूढ़ी, नसइल, दूल्हा—दुल्हन, ऊँट और धोबिया—धोबिन का मुख्य तथा स्वतंत्र प्रकरण होता है। धोबिया—धोबिन स्वांग के संलाप का एक नमूना इस प्रकार है —

बजाने वाले गाते हैं —

‘कहवाँ ते बाड़ी धोबिन तोर सउननियाँ,
कहवाँ बाड़ी तोर घाट रे।

धोबिन —

घरवा ते बाड़ी बाबू मोर सउननियाँ,
सरयू तीर मोर घाट रे,
मोर सुघर धोबिनियाँ।

बजाने वाले —

कवन घाट धोबिन करेलू धोवइया,
कवने घाट मारेलू नजरिया रे,
मोर सुघर धोबिनियाँ।

धोबिन —

जवना घाट रजवा मोर करेलें दतुवनियाँ,
वही घाटे मारेली नजरिया रे,
मोर सुघर धोबिनियाँ।

बजाने वाले —

कहवाँ के हऊ रे सुघर धोबिनियाँ,
काशी गवनवाँ कइले जालू हो,
मोर सुघर धोबिनियाँ।

धोबिन —

गउवाँ कंचनपुर के सुघर धोबिनियाँ,
काशी गवनवाँ कइले जालू हो बालम।

गोंडू नर्तक शिव द्वारा भस्मासुर को भस्मीभूत करने का जो अभिनय करते हैं, वह बड़ा ही आकर्षक और प्रभावशाली होता है। भस्मासुर के भस्म होने के पश्चात् विजय के आह्लाद में उद्यत शिव बने पात्र के ताण्डव-नृत्य की सरगर्मी देखते ही बनती है। उस समय इस नाच का मुख्य वाद्य हुड़का बड़े वेग से बजता है। इसी से अतीतकाल में शैव मत से इस नृत्य के सम्बन्ध की सम्भावना की जा सकती है। इसके हरबोलिया के कथनों से इस सम्भावना को बल मिलता है। वह स्वांग में कृष्ण बने पात्र के विषय में भी अनर्गल एवं अश्लील बातें निकालता है। डीह, काली सभी देवी-देवताओं को अपशब्द कहता है, जो उसका विष्णु-विरोधी स्वरूप स्पष्ट करता है। इसी तथ्य के आलोक में यदि इस लोकनाट्य में मध्यकालीन धार्मिक मतभेद एवं प्रतिस्पर्द्धा की गंध मिलती हो तो वह कुछ सीमा तक मान्य हो सकता है। काली माई का जो स्वांग गोंडू नाच में प्रदर्शित किया जाता है, उसमें संतान के लिए काली माई को बकरा चढ़ाने की लोक मनौती को सरस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। स्वांग के बीच-बीच में हरबोलिया जो भद्दे मजाक एवं हास्य-व्यंग्य के छींटे देकर जनता का मनोरंजन करता है, उससे इस लोकनाट्य के प्रति गहरी रुचि होना स्वाभाविक ही है।

भोजपुरी अंचल की मानसिकता, लोकजीवन की कुत्सित प्रवृत्तियाँ एवं लोक संवाद, लोकचरित्र, लोकव्यवहार को लोकछन्दों में प्रस्तुत करने वाला यह नाच अपने में बहुत बड़ा संस्कार छिपाये हुए है। राजस्थानी लोकनाट्यों में जो स्थान 'गवरी' लोकनाट्य का है और जिसे डॉ० महेन्द्र भानावत¹¹ ने राजस्थानी लोकनाट्यों का मेरुनाट्य माना है, वही स्थान भोजपुरी लोकनाट्यों में इस लोकनाट्य को दिया जा सकता है। विशिष्ट वर्ग अथवा जाति की धरोहर होते हुए भी यह भोजपुरी अंचल के आदर्शों, कला, शिल्प सम्बन्धी विशेषताओं और सांस्कृतिक मूल्यों को अपने में समाहित किये हुए भूतनाथ एवं काली माई की लीला के प्रति उत्साह प्रदान करता है।

लोकनाट्यों की जितनी विविधता तथा व्यापकता इस गोंडू नाच में देखने को मिलती है, सम्भवतः उतनी भोजपुरी के किसी अन्य लोकनाट्य में दृष्टिगोचर नहीं होती है। सब मिलाकर यही कहा जा सकता है कि यह नाट्य मानव की आदिम प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। सम्भवतः यह भाँड़ का प्राचीन लोक-प्रचलित रूप है।¹²

पखावज नाच

गोंडों के गोंडू नाच से इसके प्रस्तुतीकरण में अन्तर होता है। इसमें प्रयुक्त मुख्य वाद्य मृदंग या पखावज है, इसीलिये इसे गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, देवरिया में

मृदंगी नाच भी कहते हैं। बलिया, गाजीपुर, आरा, छपरा में इसे 'पखावज पर का नाच' कहा जाता है। अवध क्षेत्र में यही लुटुई नाम से प्रसिद्ध है।

इसमें दो सह-नर्तक लड़के स्त्री वेश में रहते हैं। एक विदूषक होता है, जिसे 'लबार' या 'करिंगा' भी कहते हैं। साथ में मृदंग के साथ कसौरी, मंजीरा तथा बाँसुरी वादक होते हैं। आजकल मृदंग के साथ हारमोनियम और सारंगी का भी प्रचलन हो गया है। प्रायः वादक ही स्वांग भी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार इस नृत्य-नाट्य के लिए कुल मिलाकर आठ या दस लोगों की आवश्यकता पड़ती है।

इस नाच का मुख्य पात्र 'लबार' होता है, जिसके हास-परिहास से युक्त व्यंग्य-विनोदपूर्ण नृत्य का आनन्द लेने के लिए भोजपुरी जनता आतुर रहती है। लबरियावा को जो व्यक्ति पटकनिया¹³ से मारता है, वह काका या काको अथवा 'पोकली काका' कहा जाता है। लबरियावा और काको के संवाद में व्यंग्य के लिए पूरी छूट रहती है तथा सब कसूर माफ रहते हैं। इनके व्यंग्यपूर्ण प्रकरण का एक उदाहरण इस प्रकार है —

प्रदर्शन स्थल पर 'लवार' चारो ओर घूमते हुए कुछ खोजने का अभिनय करता है, काको उससे खोजने का कारण पूछता है। लबार कहता है कि वह बेइमान ढूँढ़ रहा है, इस पर काको कहता है— 'अरे भाइयों, सगरे बेइमान तो असेम्बली चलि गइले, इहाँ कहाँ मिलिहें।' विधायक लोगों पर किया गया यह बहुत ही कटु व्यंग्य है, परन्तु दर्शक श्रोता उसे हँसी के रूप में ग्रहण करते हैं। इसका लबार बहुत ही प्रत्युत्पन्न ढंग से वह एक से एक करारे व्यंग्य प्रस्तुत कर श्रोता समूह को हर्षातिरेक से विभोर कर देता है।

वैसे तो हर लोकनाट्य में प्रेक्षक और अभिनेताओं के बीच निकट का सम्बन्ध होता है, किन्तु 'पखावज नाच' में प्रेक्षक और ख्याल उतारने वालों के बीच अत्यन्त निकट का पारस्परिक सम्बन्ध देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शक भी नाटक के ही पात्र हैं। प्रेक्षकों और स्वांग के प्रदर्शकों के बीच यह नैकट्यपूर्ण समरसता नागरिक रंगशाला में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता है।

जिस प्रकार 'गोंड़ऊ नाच' में मुख्य ख्याल को उतारने के पहले 'डीह' बाँधने का उपक्रम होता है, वैसे ही इस नाच में भी डीह, काली आदि देवी-देवताओं के 'सुमिरन' के अनन्तर मुख्य स्वांग प्रारम्भ होता है। 'सुमिरन' का कार्य 'बैठकी' के अन्तर्गत होता है, तत्पश्चात् 'पैसारी' शुरु होती है। निम्नलिखित भजन से सुमिरन का कृत्य सम्पन्न होते समय कपूर, लौंग 'कसौरी'¹⁴ में रखकर आरती की जाती है —

बाजल हो ढोल बाजल हो डीह के चउरवा बाजल हो,
बाजल हो ढोल बाजल हो काली के चउरवा बाजल हो,
बाजल हो ढोल बाजल हो बरम के चउरवा बाजल हो,
बाजल हो ढोल बाजल हो कलिका के चउरवा बाजल हो।

दूसरे तर्ज में—

हे डिहऊ तोहिं सुमिरों भला, तुहरे सरनियाँ आये भला।
संझा सुमिरन आरती भला रक्षा करो हमार भला।
हे बरम तोहिं सुमिरों भला दहिनों हो तैयार भला।
सूरसती तोहिं सुमिरों भला कण्ठे हो तैयार भला।
सहकल मोहिनी इनरपुर जाले, इनर लोकवा मोहित हो जाले।
टोनहिन के टोनवाँ बान्हों भला, बान्हल जदुवा सरग मेंड़राला।।

नाचों में कई प्रकार के प्रकरण प्राप्त स्वांग प्रदर्शित किये जाते हैं। जैसे धोबी—धोबिन, सेठ—सेठानी, अहिरिन और ग्वाला का स्वांग, रासलीला या कृष्ण भगवान, कंसावतार, कठघोड़वा का खेल।

धोबी—धोबिन के प्रकरण में हाथ में गुजहा पहने एक धोबी और सिर पर कपड़े की पोटली रखे एक धोबिन आती है। वार्तालाप क्रम में धोबी—धोबिन से कहता है—

मोटी—मोटी रोटिया पकायेउ बरेठिन, भोरें चले का होइ घोबीघाट।
धोबिन : बजरा परे के तोरी मोटी—मोटी रोटियां, बजरा परे हो तोरे घाट।।
धोबी : गिलबिल गिलबिल जिन करो धोबइन गिलबिल मोहें न सोहाय।
एही गिलबिलवा के खातिर धोबइन छोडि देल्युँ मेहरी जवानि।।

इसी प्रकार धोबी जब हुक्का—चिलम के लिए कहता है, तब भी धोबिन उपेक्षा भाव से उसके हुक्का और चिलम पर भी बज्र गिराती है। गुवालिन और ग्वाले के स्वांग में एक हाथ में डंडा और कम्बल लेकर अहीर एक बड़ा साफा बाँधे दर्शकों के सामने उपस्थित होता है। रासलीला या कृष्ण भगवान की लीला में सर्वप्रथम राधिका जी सिर पर दही की मटकी रखे गोपियों के साथ रंगस्थली में प्रवेश करती हैं। श्रीकृष्ण भगवान का स्वरूप बना किशोर बालक सिर पर मुकुट लगाये, पीताम्बर पहने, हाथ में बाँसुरी लिये आकर रंगस्थली के बीच उलटकर रखी ओखली पर बैठ जाता है। राधिका जी का स्वरूप धारण किये नर्तक के प्रवेश करते ही मृदंग और कसौरी की मन्द ध्वनि पर निम्नलिखित भजन गूँजने लगता है —

आवन के मनभावन के अलबेली राधिका आवन के ।
अलबेली राधिका आवन के ।।
सोरहो सिंगार बत्तीसों आभरन, मोतिन माँग भरावन के ।
अलबेली राधिका आवन के ।।
गोड़वा मेहाबर, मुख पान के बीड़ा, घूँघरू शोर मचावन के,
अलबेली राधिका आवन के ।।
जवने—जवने रहिया राधिका आवे, मुरली के बेनु बजावन
के, अलबेली राधिका आवन के ।।

गीत में ही कृष्ण और राधा का संवाद होता है—

कृष्ण जी : वंशी हमारा दे दो ये सखी क्यों कर तूँ हलकान ।
राधा : वंशी तुम्हारा ना देबो मनमोहन, तूँ नान्हे के चोर ।
घर—घर के माखन खइल, भ—इल बिरिज में शोर ।
कृष्ण जी : घर में हम माखन खइली, ना जानी कछु तोर ।
पक्की ठगिनियाँ हमरा के ठगलू, सुरत देखा के गोर ।।

कृष्ण—लीला के इस भोजपुरी ख्याल में लोकजीवन ने ललिता महाराज और एवाजी नाम के दो कल्पित पात्रों की कल्पना की है, जो ख्याल में मुख्य भूमिका निभाते हैं। राधा द्वारा कृष्ण की वंशी छीन लिये जाने पर माता यशोदा ललिता महाराज और एवाजी से अनुरोध करती हैं कि वे कृष्ण की बाँसुरी राधा से दिलवा दें। ललिता महाराज तो असमर्थता प्रकट करती हैं, किन्तु एवाजी बड़ी सी तोंद बढ़ाये उछलते—कूदते हुए राधा के पास पहुँचते हैं, जहाँ गोपियाँ उनकी बड़ी सी तोंद पर लात मारती हैं। कृष्ण—लीला का यह पूरा प्रसंग बड़ी ही नाटकीयता के साथ कभी गीतों में तो कभी वार्ताओं में उभरता है।

कठघोड़वा नाच

बस्ती और गोरखपुर जनपद के कुछ हिस्सों में कठघोड़वा नाच प्रदर्शित होता है। गोरखपुर में यह आज से पचास वर्ष पूर्व खूब प्रचलित था, किन्तु अब धीरे—धीरे इसका प्रचलन समाप्त होता जा रहा है। इस नाच के लिए समाजियों की संख्या 10 से लेकर 12 तक होती है। इसमें भी मुख्य वाद्य मृदंग ही होता है, साथ में कसौरी, टुनटुनी, करताला, सिंधी, जोड़ी, मंजीरा भी होता है।

इस ख्याल का कठघोड़वा नाच नाम पड़ने का कारण यह है कि इसमें किसी मिर्जा साहब के जीवन चरित को प्रस्तुत किया जाता है, जो काठ के घोड़े पर सवार होकर समाजियों के बीच में आते हैं। मिर्जा साहब का पहनावा बड़ा भड़कीला होता है। वे चूड़ीदार पाजामा, लम्बा कुर्ता, सिर पर साफा या टोपी, सन की बनी हुई लम्बी-लम्बी दाढ़ी तथा मूछें, हाथ में छाता तथा पाँवों में काठ का पउवा¹⁵ पहने हुए आते हैं। उनका घोड़ा भी बाँस की खपच्चियों के सहारे काठ का बना होता है, जिस पर नीले-पीले कागज चिपकाये रहते हैं, ऊपर लाल कपड़े की जीन चढ़ी रहती है। मिर्जा साहब इस घोड़े को अपने कमर से नीचे इस रूप में पहने रहते हैं कि मालूम पड़ता है कि वे घोड़े पर सवार हैं। पैरों में पहने हुए पउवे से जो आवाज होती है, वह घोड़े के टप-टप आवाज के ही समान होती है। मिर्जा साहब अपने पैरों को ही इस प्रकार घुमाते और दौड़ाते हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि उनका घोड़ा दौड़ लगा रहा है। मिर्जा साहब के कन्धे पर एक नर्तक (स्त्री पात्र) भी सवार रहता है।

कठघोड़वा नाच में मिर्जा साहब का वृत्तान्त मध्यकालीन मुस्लिम सामंतवाद से सम्बद्ध प्रतीत होता है। बहुत से भोजपुरी गीत होरिल सिंह, कुसुमा देवी तथा मिरजवा के आख्यानों से सम्बन्धित हैं, जिनको पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' भाग-5 में संग्रहीत किया है। चूँकि इन गीतों का वातावरण एवं इतिवृत्त मध्यकालीन मुस्लिम भारत से है, अतः कठघोड़वा नाच के उद्भव का समय मध्यकालीन हो सकता है। भोजपुरी के उदीयमान गीतकार पं० त्रिलोकीनाथ उपाध्याय¹⁶ ने अपने एक गीत में इस नाच को अलाउद्दीन खिलजी के समय से प्रारम्भ हुआ माना है। इस नाच का विस्तृत वर्णन पं० त्रिलोकीनाथ उपाध्याय ने अपने एक वर्णनात्मक गीत में किया है, जिसमें उक्त नाच के वातावरण, रंगमंच, साज-सज्जा, दर्शक, कथानक, कलाकार प्रभाव, वाद्य, प्रदर्शन विधि आदि समस्त तत्त्वों और पक्षों का बड़ा ही विस्तृत एवं मनोहारी परिचय प्राप्त होता है।

कठघोड़वा नाच के प्रारम्भ में 'सुमिरनी' होता है। इस समय सभी समाजी विभिन्न वाद्य यंत्रों को बजाते हुए घूम-घूमकर सुमिरनी करते हैं। सुमिरनी करते समय काली जी को लवंग और धूप चढ़ाया जाता है। काली जी की स्तुति निम्नलिखित भजन से की जाती है -

सुमिरों आदि भवानी, जगत में नाम चलाने वाली।
 नहीं धरती ना रहे अकाशा, ना पवन ना पानी।
 मया रूप ते रचना रचलू, रचना कहाँ ते बखानी। सुमिरो आदि भवानी...
 काह बरन के माता कहवलू, काहू बरन के प्रानी।

काह बरन देवी दुर्गा बोले, घर-घर चउरा बन्हानी। सुमिरो आदि भवानी...
जन्म लेत के मात कहावें, भोग लेत के प्रानी।
पूजा के दाई देवी दुर्गा बोले, घर-घर चउरा बन्हानी। सुमिरो आदि भवानी...
संत अन्त भगवन्त जानि के, रक्षा करहु भवानी।
राउर महिमा केहू ना जाने, सबके पे फेरेलू तूँ घानी। सुमिरो आदि भवानी...

काली जी स्तुति के बाद डीह और देवी की स्तुति की जाती है, जो इस प्रकार है—

धई-धई डिहवा ये राजा सरन तुम्हार,
तुहरे सरनियाँ भँवरवा एक अइले,
काहें भँवरवा तोर जिअरा डेराला।
हँसत अइल हो खेलत घरवा जइब।
छटकल मोहिनी इनरपुर जाले,
इन्दर लोकवा मोहित हो जाय।
मोहति-मोहति मइया सभवाँ में अइलू,
सभवाँ के लोगवा मोहित हो जायँ।

इस स्तुति के उपरान्त अपने बीच मशाल¹⁷ रखकर समाजी बैठकर चढ़ानी गाते हैं, जो इस प्रकार है—

कोठा ऊपर कोठरी, तमोलिन कतरे पान।
हाथ सरौता छूट गया, लवण्डे मारे सान।। कहो बाह-बाह...
काहें खातिन राजा रुसे, काहें खातिन रानी।
काहें खातिन बगुला रुसे, जोहत बाटे पानी।। कहो बाह-बाह...
कवन फूल धरती में फूले, कवन फूले असमान।
कवन फूल गंगा में फूले, खुश रहे भगवान। कहो बाह-बाह...
कवन समय धरती डोले, कवन समय असमान।
कवन समय में सीता हरिगो, कहाँ रहे भगवान।। कहो बाह-बाह...
सतयुग में जब धरती डोले, त्रेता में असमान।
कलियुग में सीता हरि गइलीं, बने रहे भगवान। कहो बाह-बाह...
आगे जइहो मारा जइहो, पीछे लागी धक्का।
ऐसा बाजा तुम बजाओ, सबके लागे अच्छा।। कहो बाह-बाह...

चढ़ानी की समाप्ति पर मृदंग और कसौरी की तुमुल ध्वनि स्तुति प्रकरण की समाप्ति का सूचक है, फिर लबरिउवा अपना लबार शुरू करता है, साथ ही घोड़े पर

सवार होकर मिर्जा साहब समाजियों के बीच प्रवेश करते हैं। मिर्जा साहब के आगमन से प्रस्तावित स्वांग शुरू हो जाता है। इस पर उपस्थित लबरिउवा कहता है –

छींकते मिरजवा घोड़वा फनवले, हाय मिरजा भइलें मोर सार।
काली-काली मोछिया तोर ये मिरजवा, तोर मोछिया छवना चिल्लाय।
लाली-लाली अँखिया तोर ये मिरजवा, तोर अँखिया भँवरा मँडराय।”

मिर्जा साहब की बेगम बना पात्र एक गीत इस प्रकार गाता है—

नदिया किनारे मिर्जा कोठवा उठवले, रचि-रचि काढेलें रे झरोखवा।
तेहि चढि सूतेलीं राजा रनिया बेनियाँ डोलावे, बेनियाँ डोलावत बहियाँ पुरकली।
बैदा बोलाव ये मिरजवा।

वैद जी आते हैं –

अइलें बैदा पलंग चढि बइठें, माँगे लगलें साठि हो रूपइया।
रूपया देतउ हमरे लागे मोहिया, मोहर मँगाव ये मिरजवा।

मिर्जा साहब –

मोहर मँगावत लागे हमरे मोहिया, झुलिनियाँ बेचि डार ये राज-रनियाँ।

बेगम –

झुलिनी बेचत लागे हमके मोहिया, बहिनियाँ देइ डार ये मिरजवा।

इस नाच को 'इन्द्रासनी नाच' और इसके मुख्य वाद्य मृदंग को 'इन्द्रासनी बाजा' कहते हैं। यह मान्यता सम्भवतः पौराणिक धारणा पर आधारित है। कठघोड़वा नाच की परम्परा अगर देवराज इन्द्र के दरबार में किन्नरों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले नृत्य-संगीत से हो तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ऐसी मान्यता है कि इन्द्र के दरबार में अप्सरायें नृत्य करती हैं, गन्धर्व वाद्य बजाते हैं और किन्नर विभिन्न प्रकार के भाव-भंगिमाओं से अभिनय कर मनोरंजन प्रदान करते हैं। ये किन्नर घोड़े के मुख की आकृति वाले होते हैं, जैसा कि 'हलायुध कोश' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

किन्नर – पु०-स्त्री (किं कुत्सितों नरः अश्वमुखत्वात् तथा त्वम्) देवयोनि विशेषः,
स तु अवश्वमुखत्वात् कुज्जितः नरः स्वर्गायकः तुभ्यरु प्रभृतिः किम्पुरुषः तुरंगवादनः मयु
अश्वमुखः, गीतमोदी, हतिरणनर्तकः।¹⁸

किन्नरों के नृत्य की परम्परा कठघोड़वा नाच में किस प्रकार प्रतीकित या संकेतित है, इसका कोई ठोस आधार नहीं है, फिर भी अनुमान है कि लोकजीवन में जिस प्रकार तमाम वैदिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक घटनाएँ घुली-मिली हैं और लोक कलाकारों ने उनको तराश कर अपने अनुकूल ढाल लिया है, उसी प्रकार इन्द्र के दरबार में किन्नरों की पौराणिक धारणा पर आधारित आख्यान को लोकजीवन ने अपनाकर उसका नाटकीय रूप कर लिया है, क्योंकि इस नाच का वृत्तान्त मध्यकालीन भारतीय परिस्थिति एवं ढाँचे के अनुसार है। कहा जाता है कि मध्यकाल में मुसलमान शासक हिन्दुओं की सुन्दर स्त्रियों का बलात् अपहरण कर ले जाते थे। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-गीत में कुसुमा देवी नामक किसी सती नारी से सम्बन्धित एक गीत संग्रहीत किया है जो एक मुगल शासक को चकमा देकर अपने सतीत्व की रक्षा करती है।

कठघोड़वा स्वांग अपने प्रस्तुतीकरण एवं अभिनय कला की दृष्टि से भोजपुरी नृत्य-नाट्यों में महत्त्वपूर्ण है। कभी भोजपुरी क्षेत्र में इस नाच की लोकप्रियता असीमित थी। इसके दर्शक दूर-दूर से आकर अपना मनोरंजन करते थे, किन्तु इस नाच का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है।

करखा नाच

जातीय दृष्टि से 'करखा नाच' थोड़ी भिन्नता के बावजूद 'पखावज' नाच का ही एक भेद है। इनमें मुख्य अन्तर वाद्य यंत्र का होता है। पहले में जहाँ मुख्य वाद्य मृदंग है, वहाँ करखा नाच का प्रमुख वाद्य करखा है। करखा ताशा के आकार का होता है। लगभग डेढ़ फीट के व्यास में लोहे के बल्ले पर एक तरफ चमड़े से मढ़ा रहता है, जिस पर बाँस की पतली-पतली तीलियों (चोप) से चोट की जाती है, चोट करने पर 'घड़बड़-घड़बड़' की तुमुल ध्वनि होती है। करखा के अतिरिक्त इस नाच में ढोलक, मजीरा, करताल, सिंही आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है। इसमें कुल आठ या दस समाजी होते हैं। एक जोड़े किशोर नर्तक, एक लबार, एक मशालची तथा शेष वादक होते हैं। इसमें भी लबार जिससे बोलवाई करता है, उसे 'काका' या 'काको' कहते हैं। प्रारम्भ में कपूर, लवांग जलाकर देवी-देवताओं को चढ़ाते हैं और सुमिरिनी करते हैं। सुमिरिनी में निम्नलिखित भजन गाते हैं।

सुमिरी लीं हो मझ्या सुमिरी लीं तुहके,
केइ चढ़ावे नरियर पीयरी, केइ चढ़ावे लवांगिया के धार।

सुमिरी लीं हो मइया सुमिरी लीं तुहके,
केइ चढ़ावे खँसी-भेड़वा, केइ अरज कइले ठाढ़।
सुमिरी लीं हो मइया सुमिरी लीं तुहके।

करखा के नाच में भी कृष्णावतार, भस्मासुर, वाणासुर, महादेव-पार्वती के खेल आदि प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रायः आख्यान गोंड़ऊ नाच के ही समान हैं, केवल गीतों और वार्ताओं में अन्तर है। आज इस नाच का प्रचलन प्रायः लुप्त होता जा रहा है। आज से 40-50 वर्ष पूर्व इसका बड़ा प्रचलन था। प्रयास करने पर भी करखा के नाच को देखने का अवसर नहीं मिल सका। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि भोजपुरी के जातीय नृत्य-नाट्यों में अपने नाना प्रकार के स्वांगों के प्रस्तुतीकरण के कारण इस नाच का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बलिया, आरा और छपरा (सारण) जिलों में इसमें वाद्य-वादन के साथ निर्गुन भजन, पचरा आदि गीत ही अधिक गाये जाते हैं। स्वांग और अभिनय अपेक्षाकृत कम दिखाया जाता है। इसीलिए डॉ० श्रीधर मिश्र ने इसे नृत्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है।¹⁹

दूसरी ओर बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, वाराणसी आदि के भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में यह लोकनृत्य के रूप में प्रस्तुत न होकर नृत्य-नाट्य के रूप में प्रस्तुत होता है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी इनके विषय में लिखते हैं— जाति विशेष का भी एक प्रहसनात्मक नृत्य नाट्य शैली का होता है, जिसमें मुख्य कथा तो पौराणिक और धार्मिक होती है, किन्तु साथ-साथ प्रहसन के लिए भी पर्याप्त क्षेत्र रहता है, जिसे भँडैती कह सकते हैं और जिसमें प्रायः सामाजिक व्यंग्य की प्रधानता रहती है।²⁰ श्री प्रोजेश बनर्जी महोदय ने भी जातिगत नृत्य में स्वांग और अभिनय के महत्त्व को स्वीकार किया है।

धोबियऊ नाच

यह धोबियों का अपना जातीय नाच विशेष है। इस नृत्य-रूपक में उनकी जातिगत विशेषताएँ तो लक्षित होती ही हैं, साथ ही सम्बन्धित गीतों में अन्योक्ति शैली में जीवन का बहुत बड़ा सत्य भी निहित रहता है। धोबी अपने विवाह में स्वयं नाचते हैं, बाहर के किसी नर्तक को नहीं बुलाया जाता। समाजियों की संख्या यहाँ भी 10 के आस-पास रहती है। मुख्य वाद्य पखावज होता है, इसीलिए इसे 'पखावज पर की नाच' भी कहते हैं। विदूषक या जोकर यहाँ भी रहता है। प्रारम्भ में नर्तक नाचते हुए निम्नलिखित गीत गाकर 'सुमिरन' करते हैं और अन्य लोग बजाते हुए गाते हैं—

केकरा पोखरवा जे झिलमिल पनियाँ, जे केकरा पोखरवा सेवार जी।

जोड़ी केकरा पोखरवा सेवार जी, केकरा पोखरवा जे चेल्हवा मछरिया ।
जे केई डालेला महाजाल रे, जोड़ी केई डालेला महाजाल रे ।
राम पोखरवा जे झिलमिल पनियों, जे लछिमन पोखरवा सेवार जी ।
सीता पोखरवा जे चेल्हवा मछरिया, जे रावण डालेला महाजाल रे ।
जोड़ी रावण डालेला महाजाल रे ।

इसी बीच सिर पर साड़ी की मुरेठी (पगड़ी) साड़ी की चुनुअवा धोती, कान में कुण्डल, काँख में गठरी, तन में गंजी, हाथ में डण्डा और पैर में घुँघरू पहने हुए धोबी प्रवेश करता है और यह भजन गाता है—

मनवाँ के मइली, मनवाँ के मइली, मनवाँ के मइली,
चल सखी धोइ आई मनवाँ के मइली ।
केथिके रेहिया, केथिके घइली, कवने घाट पर सउनन कइली ।
चल सखी धोइ आई मनवाँ के मइली ।
सत कर रेहिया, सुरतिया के घइली, त्रिकुटी घाट पर सउनन कइली ।
चल सखी धोइ आई मनवाँ के मइली...
सात पाँच सखिया मिलि एक मति भइली, धोबिया के दे आई नेवता कसइली ।
चल सखी धोइ आई मनवाँ के मइली...
जोरेलें ब्रह्मा जी अग्निकुण्ड चइली, काया के करहिया में अवटन कइली ।
चल सखी धोइ आई मनवाँ के मइली...
कहत कमाल कबीर के बालक, सहजे सुन्दरी सफेद होइ गइली ।
चल सखी धोइ आई मनवाँ के मइली... ।

इस गीत को गाते हुए धोबी अभिनय—क्रम में पहले अपने गदहे के साथ मालिक (बाबू साहब) के द्वार पर पहुँचता है, कपड़ा देने के बाद अपनी पिछली मजदूरी की माँग करता है। मालिक देर से कपड़ा लाने के कारण धोबी पर नाराज होता है तथा उसे यह कहकर छोड़ देता है कि वह अब अपना कपड़ा अमुक धोबिन से जो हाल में अन्यत्र से आकर इस गाँव में बसी है, धुलवायेगा। धोबी उस धोबिन से भेद करता है तथा उसका अब तक अविवाहित रहने का कारण पूछता है। धोबिन कहती है कि विवाह के लिए मेरी एक शर्त है, वह यह कि जो कोई मुझे विरहा में पराजित कर देगा, उसी से विवाह करूँगी। इसके बाद धोबी और धोबिन में देर तक सवाल—जवाब होता है, जिसका स्वरूप कुछ इस प्रकार है —

धोबिन— 'काइ के नाम तोरे हवे रे धोबिया, कहवाँ बसेला तोहार गाँव,

केकर—केकर तूँ करेले धोवइया,
केकर भजेले नाम रे जोड़िया, केकर भजेले नाम।’

धोबी— ‘कुक्कुट नाव हवे रे धोबिनियाँ, बसीला अयोध्या ग्राम।
राजा राम जी के धोईला कपड़वा,
भजीला गुरुजी के नाम रे जोड़िया।’

धोबिन— ‘कहाँ बाटे तोहार अउनन—सउनन
कहवाँ बाटे तोहार घाट,
कवने नगरिया में असन—बसन तोर,
केकर जोहेला बाट रे जोड़िया,
केकर जोहे ला बाट।’

धोबी— ‘गंगा के तीरे अउनन—सउनन,
सरजू तीरे धोबी घाट।
अवध नगरिया में असन—बसन मोर गुरुजी
के जोहीला बाट रे जोड़िया, गुरुजी के जोहीला बाट।’

धोबी—धोबिन का यह गीतबद्ध वार्तालाप बहुत देर तक चलता है। अन्त में धोबिन हार स्वीकार करते हुए कहती है—

तोहरा से हार हम गइली रे धोबिया कि अब मति झगड़ा बढ़ाव।
राजा राम के नीके नइयाँ भज, कि हम भजी सीता जी के नाँव।

धोबी—
‘संझा सुमिरि गाई संझा माई के, अनगुहे सुरुज जी नाथ,
इहवाँ सुमिरि गाई पंच के मेड़रिया कि बिरहा खतम होत बाय।’

इसके बाद धोबी बाबू साहब से कहता है कि धोबिन को बिरहा में मैंने परास्त कर दिया है, अब उससे वह विवाह कर लेगा।

यह नृत्य रूपक बड़ा ही रोचक होता है। धोबी और धोबिन के इस उत्तर—प्रत्युत्तर के समय उनकी भाव—भंगिमाएँ देखते ही बनती हैं। दोनों के पास एक—एक गदहे खड़े रहते हैं, जो वास्तव में गदहे न होकर गदहे के आकार के झुके हुए दो व्यक्ति रहते हैं और बीच—बीच में गदहे की बोली बोलते रहते हैं। जोकर बीच—बीच में गदहे को तंग करता रहता है।

उपयुक्त नृत्यक्रम में रुकने पर नर्तक कान पर हाथ रखकर कभी-कभी भजन, विरहा और 'छियो राम' कहते हुए धोबियऊ गीत गाते हैं। इनके गीतों के विषय प्रसिद्ध पौराणिक कथानक, राम और कृष्ण के जीवन चरित्र की घटनाएँ, सामाजिक अथवा पारिवारिक जीवन की घटनाएँ होती हैं। गीतों में कहीं-कहीं अश्लीलता के तत्त्व भी रहते हैं।

विवाह के अवसर पर धोबी अपने गृहस्थों के यहाँ जाकर नाचते हैं। इस जातीय नाच का भी अब धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है, क्योंकि ये जातियाँ अब इनमें अपना अपमान समझती हैं। धोबिया नाच के कलाकारों में भोजपुरी क्षेत्र में गाजीपुर जनपद के लोक-कलाकार बाबू नन्दन का नाम प्रमुख है। यह कलाकार भी अपने जीवन के सांध्यकाल में है। इनकी परम्परा का दूसरा कोई कलाकार अभी नहीं दिखाई दे रहा है।

नटुआ नाच

नटों द्वारा प्रस्तुत किये जाने के कारण इस नाच का नाम नटुआ नाच पड़ गया है। हमारे देश में नट जाति का उल्लेख वैदिक साहित्य से ही मिलता है। उस युग में इन्हें 'शैलूष' कहते थे। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता में तीसवें अध्याय में 'शैलूष' का उल्लेख प्राप्त होता है।²² वाल्मीकि रामायण के अन्तर्गत राम के राज्याभिषेक के वर्णन में नटों, नर्तकों और गाते हुए गायकों के कर्ण-सुखद वचनों का उल्लेख है।²³ श्री ए० बी० कीथ का मत है कि कुश और लव ने राम को जो सीता की कथा सुनाई, वे कुशीलव (नट) ही थे।²⁴ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय नट-नर्तक, गायक, वादक, कथा सुनाकर जीविकोपार्जन करने वाले कुशीलव (नृत्य के साथ गाने वाले), प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमिक (ऐन्द्रजालिक), चारण आदि विद्यमान थे। इतना ही नहीं प्रत्येक मण्डली का राजकर भी निश्चित था। बाहर से आये हुए नटों की मण्डली को खेल का पाँच पण राजा को कर के रूप में देना पड़ता था।²⁵

इन प्रमाणों के आधार पर नटों की प्राचीनता प्रमाणित होती है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नट-नटी का प्रयोग अभिनेता-अभिनेत्री के अर्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त आजकल नट जाति के लोग नाना प्रकार के आंगिक और व्यायाम से सम्बन्धित खेल दिखाकर जीविकोपार्जन करते हैं।²⁶ इन्हें ही पूर्वी उत्तर-प्रदेश (भोजपुरी क्षेत्र), पश्चिमी बिहार (भोजपुरी क्षेत्र) में नटुआ और बनजारा कहते हैं, जिनका प्रधान पेशा है तरह-तरह के मदारी, बाजीगरी और स्वांग, खेल-तमाशे दिखलाना। अनुमान है कि वैदिक काल के बाद भारत में वाह्य आक्रमणों, सामाजिक और उपजातियों के निर्माण

का क्रम बना, लगता है नट उन्हीं में से हैं।²⁷ इस घुमन्तू जाति के लोग लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपने डेरे-तम्बू को खच्चरों, गधों और घोड़ों पर लादे समूह में घूमते रहते हैं। इनके नाच की एक मण्डली में दो या तीन साथी रहते हैं। ये लोग अपना तमाशा दिखलाते हैं, ढोल बजाते, नाचते और लोकगीत की धुन में गाते हैं। इनके हलके और मजाकिया ढंग के पद्यबद्ध कथोपकथन सुनकर ग्रामीण दर्शकों में हास्य की लहर दौड़ जाती है।²⁸

भोजपुरी क्षेत्र में इन्हीं नटों द्वारा तरह-तरह के खेल दिखाये जाते हैं। इनके जीविकोपार्जन का यही मुख्य धंधा है। इनकी स्त्रियाँ भी तमाशों में रस्सों पर चढ़कर चमत्कारिक ढंग से नाच दिखाती हैं। इन नटिनियों या बेड़िनियों के खेल-तमाशों का उल्लेख अपने 'मृगनयनी' उपन्यास में वृन्दावन लाल वर्मा ने किया है, जो एक गढ़ के विजय तक में सहायक होती है।²⁹

नटुआ नाच की एक मण्डली भी होती है। सारंगी, तबला या कांसी आदि की संगत पर जवान नटुवा छोकरे साड़ी, ब्लाउज, सलवार, कुरते में लड़कियों की भूमिका निभाते हैं और उत्तेजक हाव-भाव दिखाकर विलक्षण हाव-भावपूर्वक कटाक्ष करते हुए नृत्य करते हैं। ये पेशेवर नटुवे पश्चिमी बिहार के गाँवों में विवाह के अवसरों पर देखे जाते हैं। इधर के क्षेत्र में बारात के साथ नटुवा नाच की पार्टी ले जाना गौरव की बात मानी जाती है। इसी क्षेत्र के कुछ अंचलों में नटुवा नाच को 'लवण्डे की नाच' भी कहते हैं।

नटुवा नाच में कहीं-कहीं राजा विक्रम और नेटुआ दयाल सिंह के लम्बे-लम्बे गीत गद्य-पद्य मिश्रित भाषा में गाये जाते हैं। अचानक नर्तक अपने नृत्य को रोककर संवाद की शैली में बड़े-बड़े गद्यांश पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के पात्रों की तरह हाव-भाव दिखलाते हुए बोलने लगता है और फिर तुरन्त एक जोरदार चलती धुन में टुनक-टुनक कर दोहे या गीत गाने लगता है। कहा जाता है कि नेटुवा दयाल सिंह एक नट-नर्तक था, जिसने कई नटुवा गीतों की रचना की थी। उसके सौन्दर्य और कला चातुर्य पर बरबरी शहर की मरवती नामक एक महाजन की कन्या आसक्त हो गई, जिसकी प्रेम कहानी का वर्णन नटुआ नाच के गीतों में है। नटुवा के नाच में ही राजा विक्रम की सात रानियों की सौतियाडाह ही कहानी का भी वर्णन है।³⁰

नटुवा के स्वांग में कभी-कभी नटों द्वारा बाँस के सहारे विभिन्न प्रकार की कलाबाजियाँ दिखलाई जाती हैं, जिन्हें 'लठउत' कहते हैं। इसमें दो पात्र होते हैं। एक खजड़ी या ढोल बजाते हुए गीत गाकर दूसरे को प्रदर्शन करने के लिए निर्देश देता है।

प्रदर्शन के लिए पहले एक लम्बा बाँस गाड़ देते हैं। बाँस के अन्तिम छोर पर एक लोहे का पत्तर लगा रहता है। नट इसी पर चढ़कर विभिन्न प्रकार का खेल दिखाता है। कभी तो वह दो बाँसों के बीच में एक रस्सा बाँधकर और उसी पर चलते तथा हाव-भाव दिखाते हुए विभिन्न प्रकार का प्रदर्शन करता और कभी एक बड़ी सी चिड़िया का खोल सिर पर ओढ़कर उसके चोंच को जो काठ का बना होता है, हिलाता है तथा चिड़िया की सी आवाज निकालता है, इसी रूप में वह बाँस पर भी चढ़ जाता है।

इनके द्वारा मदारी और बाजीगरी का भी खेल दिखाया जाता है। इस खेल में उस्ताद और जम्हूरा दो पात्र होते हैं, जो आपस में नाटकीय ढंग से बातचीत करते हैं, जिससे जनसाधारण का अच्छा सा मनोरंजन होता है। इन दोनों के संवाद के नमूने का खड़ी बोली रूपान्तर अवलोकनीय है—

‘जम्हूरे’—‘उस्ताद’—‘लड़ेगा’—‘लड़ूंगा’—‘पहलवान दूध पीता है, तू हार जाएगा।’—
‘मैं घी खाता हूँ, उसे कच्चा ही खा जाऊँगा।’—‘इसके चार भैंसे हैं।’—‘मेरे आठ हैं।’—
‘इसके दो बाप हैं।’—‘मेरे चार बाप हैं।’

चूँकि, लोकनाट्य में दर्शक—प्रदर्शक का भेद समाप्त रहता है। इसलिए कभी—कभी उस्ताद दर्शकों में से ही किसी को जम्हूरे के स्थान पर बिठा लेता है और उससे प्रश्न करते हैं। कभी—कभी मदारी या नट अपने साथ की नटी को दर्शकों को द्रवित करने के लिए और साथ ही अपना चमत्कार दिखाने के लिए छोटी सी पिटारी में हाथ—पैर बाँधकर बन्द कर देता है। इस अवसर पर वह नटी करुणापूर्ण स्वर से निम्नलिखित संवाद बोलती है —

‘हाय रे मदरिया।’
‘पेटवा की नाई, बाँधि—बाँधि गोड़वा,
बाँधि—बाँधि हथवा अच्छे जिनगिया नसाला रे पिटरिया।’
‘हाय रे मदरिया।’ ‘केउ मालिक रे,
केउ रे दाता, केउ आपन रे, केउ रे पराया। दाता के सोने के अटरिया।’
‘हाय रे मदरिया, हमरउ जो—लिहें खबरिया।’

दर्शकों को आकर्षित एवं उत्तेजित करने के लिए इन तमाशों के साथ कोई विशेष प्रासंगिक गीत नहीं होता। लठउत में स्त्रियों द्वारा रस्से पर चढ़कर नाचते समय अथवा बल्ले पर किशोर नट द्वारा तमाशा दिखाते समय इन्हें उत्तेजित और प्रेरित करने के लिए नीचे से उत्तेजक धुन में ढोलक या कभी—कभी छोटा ताशा बजाया जाता है। बाजा बजाने वाला अपनी भाषा में ललकार बँधाता रहता है।

नटुआ नाच या नटों के प्रदर्शन न तो पूर्णतः नाटक की ही सीमा में आते हैं और न नृत्य की ही सीमा में। वास्तव में इनमें नृत्य और नाट्य दोनों कला के तत्त्व मिले-जुले रहते हैं। यह मात्र कौतुक, खेल-तमाशा है, जिसका रंगमंच बिना किसी तैयारी के किसी भी खुली जगह में कुछ ही क्षण में तैयार हो जाता है, इसलिए नृत्य, नाट्य, मंच और दर्शक एकाकार होने के कारण इनके खेल-तमाशे लोकनाट्य की परिधि में आसानी से आ जाते हैं। इनका प्रदर्शन थोड़ी देर तक भोजपुरी क्षेत्र के देहात की जनता पर अच्छा प्रभाव डालता है। इस नाच की बड़ी प्राचीन परम्परा भोजपुरी क्षेत्र में रही है। 'जनकवि भिखारी ठाकुर' की भूमिका में डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त ने स्पष्ट किया है— 'भिखारी ठाकुर के भोजपुरी के सांस्कृतिक जीवन में प्रवेश करने से पूर्व इस क्षेत्र का रंगमंचीय स्वरूप क्या था यह अपने आप में शोध का विषय है। 'नटुवा नाच' और 'जोगीड़ा' के मूल में निश्चय ही कोई मूल आंचलिक परम्परा रही होगी। उसी को लीला रूप में ग्रहण कर बंगाल की जात्रा से प्रेरणा प्राप्त कर भिखारी ठाकुर ने रंगमंच को पुनर्जीवित किया।'³¹

फरी नाच

भोजपुरी क्षेत्र में अहीरों का जातीय स्वांग फरी नाच के नाम से प्रसिद्ध है। प्रायः विवाह के समय यह नाच किया जाता है। इसमें कुल मिलाकर तीन-चार पात्रों की ही आवश्यकता पड़ती है। इसका प्रदर्शन समतल भूमि पर कहीं भी बाग या मैदान में हो जाता है। इसमें नृत्य की प्रक्रिया ढोलक, टिमकी-नगाड़ा या काँसी बजाकर पूरी की जाती है। इसमें जोड़े नर्तक कसा हुआ जाँघिया पहने रहते हैं, जिस पर घुँघरू टँके रहते हैं, कमर में भी घुँघरूओं की पेटी बँधी रहती है। दौड़-दौड़कर बिरहा गाते समय ये घुँघरू बजते हैं। साधारणतया पौराणिक आख्यान या लोकप्रसिद्ध कहानियाँ उन गीतों की विषयवस्तु होते हैं, जिनमें राष्ट्रीय भावना और सम-सामयिक सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण भी होते हैं। जातीय नृत्य-नाट्यों में सबसे अधिक कलात्मक अहीरों का नृत्य ही है। नाच की तीव्रता तथा नर्तकों की त्रिभंगी मुद्रायें व बाँसुरी वादन से उत्पन्न वातावरण बड़ा मोहक लगता है। इस नृत्य-नाट्य का प्रारम्भ सुमिरन से होता है। सुमिरन का तर्ज 'चौँचर' कहलाता है, जो इस प्रकार है।

*हा राम-लखन दोनों भइया,
जब बिनराबन गइया हो चरवलें,
जिन गंगा में करलें असनान।*

लय के आरोह-अवरोह से ही वर्णित घटना का वातावरण उत्पन्न होता है। साथ

ही, गीत पंक्तियों से पति के विदेश चले जाने पर पत्नी के वियोग का अत्यन्त कोमल एवं मर्मस्पर्शी भाव—चित्र उभरने लगता है —

अरे, पिया मोर मोरंग गइले होना,
मोरंग के हो देश, अरे मोरंगवा के हो देश।
पियवा के हो कठिन करेजवा,
बिहरेला हो करेजवा, पिया मोर मोरंग गइले ना।

गीत के साथ नृत्य का सहयोग गीत में वर्णित विरहिणी की विरह वेदनाओं को दर्शकों के समक्ष साकार करने में सहायक होता है। श्रृंगारिक घटनाओं का नृत्य—गीत के द्वारा बड़ा ही सरस परन्तु मर्यादित प्रदर्शन मिलता है। भगवान राम के रूप लावण्य पर मुग्ध ग्वालिन सुधि—बुधि खोने लगती है। दर्शक नृत्य और गीत के द्वारा प्रस्तुत इस मनोभाव की स्थिति का दर्शन कर आनन्द विभोर हो जाता है। एक उदाहरण देखिये।

हाय रे साँवर—साँवर गोरे गोरे मोहिनी मुरतिया मोह
गइलीं ग्वालिन देखि के सुरतिया मोह गइलीं।
चरन में हमहूँ फुलवा चढ़वली ग्वालिन मोह गइली ना,
ग्वालिन देखि के सुरतिया मोह गइलीं ना।

इस प्रकार फुटकर प्रसंगों को लेकर नृत्य—गीत के साथ स्वांग चलता रहता है। गान शैली और नृत्य विधान की दृष्टि से फरी नाच अन्य जातीय स्वांगों से पृथक लगता है। इसका उद्देश्य केवल मनोरंजन होता है।

कभी—कभी स्वांग को प्रस्तुत न करके केवल विभिन्न भाव—भंगिमाओं में नाचने की ही स्थिति रहती है। कभी—कभी नर्तक नाचते—नाचते बड़ी तीव्रता से आकाश में उछलता है और ऊपर ही विभिन्न अदाओं से कुलौंच खाकर फिर नीचे आकर पूर्ववत् नाचने लगता है। भोजपुरी क्षेत्र में इस प्रक्रिया को 'गिरह मारना' फरी का खेल दिखाना या फरी मारना कहते हैं। ये करतब केवल दो जोड़े नगाड़े की धुन पर दिखाये जाते हैं। उस समय अन्य कोई बाजा नहीं बजता है। नर्तक नाचते समय बाँसुरी भी बजाता है, किन्तु जब नृत्य क्रिया जटिल एवं वेगपूर्ण होती है या नर्तक द्वारा आंगिक चेष्टायें एवं विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित की जाती हैं तो बाँसुरी बजाना बन्द रहता है। नृत्य के साथ जो गीत—शैली चलती है, उसे 'बिरहा' कहते हैं।

अहीरों द्वारा प्रदर्शित 'फरी नाच' मूलतः अभिनय प्रधान न होकर नृत्य—प्रधान ही होता है। इसलिए पं० सीताराम चतुर्वेदी इसे लोकनृत्य बताते हुए कहते हैं— 'लोकनृत्यों

में अहीरों का नृत्य विवाह या पुत्र-जन्म के अवसर पर होता है, जिसमें ढोलक और काँसी बजाकर नृत्य करते हैं,³² किन्तु जब समतल भूमि पर कई प्रकार की कलाबाजियाँ प्रदर्शित की जाती हैं तथा स्त्री-पुरुष में संलाप भरा गीतों का दौर चलता है तो स्वाभाविक रूप से यह प्रदर्शन भी जातीय नृत्य-नाट्य के अन्तर्गत आ जाता है। दर्शक नृत्य और गीत के साथ प्रस्तुत इनके हाव-भाव को देखकर आनन्दविभोर हो उठता है। किसी समय भोजपुरी क्षेत्र में इस नाच की गौरवशाली परम्परा रही है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में भाषण करते हुए कहा था कि फरी नाच की परम्परा अपने यहाँ लुप्त हो रही है, किन्तु यहीं से जाकर रूस में कलात्मक रूप से संवर्द्धित होती जा रही है। सम्भवतः तक्षशिला के विश्वविद्यालय में रूस के भी छात्र अध्ययनार्थ आये थे, जो यहाँ की परम्परा को अपने यहाँ लेते गये। आज अहीर जाति भी अपने विवाह में फरी नाच कराना अपना जातीय अपमान समझने लगी है, परिणामतः बड़ी तेजी से इस नाच का भी लोप होने लगा है।

खटिक नाच

खटिकों का नाच सम्पूर्ण भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित नहीं है। कुछ भागों में तो खटिक जानते भी नहीं कि उनका कोई जातीय नृत्य-नाट्य भी है। जौनपुर, आजमगढ़ और बस्ती के कुछ अंचलों में इनका एक विशेष नृत्य आयोजित होता है, जिसमें कई प्रकार के स्वांग किये जाते हैं। मर्द ही स्त्री वेश में नाचते हैं। इस स्वांगपूर्ण नृत्य में झाँझ, नगाड़ा, हुड़का, जोड़ी, मजीरा, दो तबले (जो पेट पर बाँधे रहते हैं) आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है। प्रारम्भ से नर्तक डीह और काली की स्तुति करते समय उत्साहपूर्वक तीव्र गति से नाचते हैं। तदनन्तर स्वांग आरम्भ होता है। स्वांग के क्रम में नर्तकगण सिर पर गीली मिट्टी का चूल्हा रखते हैं। उस पर एक टीन रखते हैं, फिर समाजियों की सहायता से उसी पर आग जला देते हैं और दाल-भात पकाते रहते हैं तथा खिचड़ी खाते हुए नाचते रहते हैं। इस स्वांगयुक्त नाच की उपर्युक्त अंचलों में इतनी लोकप्रियता है कि इस नृत्य के प्रदर्शन की सूचना पाकर कई-कई कोस चलकर लोग नाच देखने पहुँच जाते हैं। किसी-किसी स्वांग में ओखली लाई जाती है। समाजियों के बीच में एक आदमी लेट जाता है तथा उसके उल्टा ओखली रख दी जाती है तथा उसमें मूसल से धान कूटते हुए नर्तक नाचते भी हैं।

इस प्रदर्शन में समाजियों की संख्या लगभग बारह रहती है। चार नर्तक, चार स्वांगिये और चार वादक होते हैं। खटिकों का यह बहुत ही श्रमसाध्य नृत्य है, परन्तु अब इसका चलन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। आज से लगभग आधी शताब्दि पूर्व इस

नाच का प्रचलन अधिक था। अब तो इस क्षेत्र के खटिक भी इसे लगभग भूल से गये हैं।

कोंहरऊ नाच

पूर्वी जिलों में कोहार जाति मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनाने का पेशा करती है। यह जाति उत्तर प्रदेश के लगभग सभी जिलों में पाई जाती है। भोजपुरी क्षेत्र के आजमगढ़ जिले में व्यावसायिक स्तर पर इस जाति द्वारा भी विवाह के अवसर पर एक जातीय नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किया जाता है, जिसे 'कोंहरऊ नाच' कहते हैं। भोजपुरी भाषी अन्य क्षेत्र के जनपदों में इसका पता नहीं चलता। अन्य जिलों में इस जाति के लोग बहुधा गोंडऊ या कँहरऊ नाच ही कराते हैं।

'कोंहरऊ नाच' में बारह जनों की आवश्यकता होती है। इसका मुख्य वाद्य हुड़का और मजीरा है। मंच के लिए चौकी की आवश्यकता नहीं होती है। समतल भूमि पर जाजिम या तिरपाल बिछाकर मशाल की रोशनी में ये अपना स्वांग शुरू कर देते हैं। इनके द्वारा अभिनीत होने वाले स्वांग में मुख्य स्वांग कृष्णलीला है, जो रात्रि के आठ बजे से प्रारम्भ होकर प्रातः चार बजे तक चलता रहता है।

'कोंहरऊ नाच' के कृष्णलीला स्वांग की विशेषता यह है कि इसमें प्रारम्भ में डीह या काली आदि की वन्दना नहीं होती है, अपितु कृष्ण और उद्धव की वन्दना की जाती है। प्रारम्भ में समाजियों के बीच उद्धव जी ऊँट की सवारी किये हुए कृष्ण जी को लेकर प्रवेश करते हैं। ऊँट का स्वरूप बनाने के लिए बड़ी आकर्षक कल्पना की जाती है। दो आदमी अगल-बगल झुके रहते हैं, जिनके ऊपर चदर डाल दिया रहता है। बाँस की एक टेढ़ी कुबरी वे दोनों आदमी अपने मुँह पर लगाये रहते हैं, जिस पर भी कपड़ा ही लपेटा रहता है, बस ऊँट तैयार हो गया। ऊँट की सवारी किये हुए उद्धव जी के प्रवेश करते ही सखियों (नर्तकों) द्वारा उनकी वन्दना होती है। वन्दना के बोल कुछ इस प्रकार हैं —

*'चलो हनुमान सभा के अन्दर सखा सहित भगवान हो,
तोहरे भरोसे उठावों महरिया, बेड़ा लगा दो पार हो,
जे ताके चेला के तिरछी नजर ते और गजब की धार है,
चलो हनुमान सभा के अन्दर सखा सहित भगवान हो।'*

इसके बाद गोपियों (नर्तकों) द्वारा कृष्ण और शंकर जी की आरती होती है। आरती के बोल इस प्रकार हैं।

आज हो कान्हा तोरी आरती लागी,
कहँवा कन्हइया तोहरो भइल है जनमवा,
कहँवा के बाजेले बधइया हो कन्हइया।

दर्शकों को आरती दिखाने के बाद स्वांग आरम्भ होता है। उद्धव जी दर्शकों के बीच में घूम-घूमकर ऊँट बेचते हुए 'कोई ऊँट लेगा, कोई ऊँट लेगा' की आवाज लगाते हैं। एक आदमी ऊँट खरीदने पहुँचता है। उद्धव जी उसकी कीमत पाँच सौ रूपये माँगते हैं, बातचीत होते ऊँट पाँच रूपये पर बिकता है। जिस समय ऊँट का मोलभाव होता रहता है, उस समय नर्तक निम्नलिखित गीत गाते हैं –

पुरुबहिं देसवा से आवे व्यापरिया से ऊँटवा चरावे हो जमुना घटवां।
ऊँटवा चरावे हो जमुना घटवा पनिआवे।
पनिआवे उधो मसलवा खिलावें, हरे ऊँधों बाबा मसलवा खिलावें।

समाजियों के बीच में उद्धव जी ऊँट लेकर घूमते रहते हैं और यह कहते रहते हैं कि 'ऊँट के नीम के पाती खियइबे, बाँस की पाती खियइबे और जमुना घाट पर पानी पिअइबे।' ऊँट के बिक जाने पर ऊँट का प्रसंग समाप्त हो जाता है। उद्धव जी का पहनावा भी दर्शकों को आकर्षित करने वाला होता है। नीचे कोपीन, ऊपर एक लम्बा अंगरखा। सन की बनी हुई बड़ी दाढ़ी रहती है। सिर पर लम्बी सी जटा। एक हाथ में बजाने के लिए भोंपा और दूसरे हाथ में टेंधने के लिए मोटा सोटा रहता है। उनके चलने का तरीका भी विचित्र होता है। वे अइठते, मचलते, कूल्हे मटकाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि जिसे देखकर दर्शक हँसी से लोट-पोट हो जाते हैं।

ऊँट के प्रसंग के समापन के साथ इस नाच का प्रथम दृश्य समाप्त हो जाता है। दृश्य परिवर्तन को जोकर (विदूषक) की व्यंग्यपूर्ण वार्ताओं से स्पष्ट किया जाता है। उसकी मुद्राएँ और बातें ऐसी हास्योत्पादक होती हैं, जिसे देखकर दर्शक पेट पकड़ लेते हैं। विदूषक की विनोदपूर्ण वार्ता की एक झलक अवलोकनीय है –

एक-एक मुरगी पे नौ-नौ मुरुगवा,
चाहे अण्डा फटि-फटि जाय, अदतिया उनके न छूटी ननदी।

तत्पश्चात् कृष्ण जी, उद्धव जी से पूछते हैं कि सखियाँ कहाँ हैं। उद्धव जी झल्लाकर अपना सोटा और भोंपा पटक देते हैं और कहते हैं कि 'हम का जानी खँसी पाठी।' कृष्ण जी जवाब देते हैं— 'बच्चा, बंशी बजावा, कहीं भी सखी लोग होइहें, ते बंशी के धुन सुनि के चलि अइहें।' इसके बाद कृष्ण जी मोहिनी बंशी बजाते हैं। बंशी की

आवाज सुनकर सखियाँ विकल हो जाती हैं और आते ही कृष्ण को चारों ओर से घेरकर निम्नलिखित गीत गाती हैं —

हम तो आती रहीं बंशी काहे के बजावो, बंशी सबद सुनि बगिया में रहेलीं रामा,
अपने मोहन के लेके बहलाती रहीं, बंशी काहे के बजावो हम तो आती रहीं।
बंशी सबद सुनि कुवना पै रहेली रामा, अपने मोहन के लेके नहलाती रहीं।
बंशी काहे के बजावों, हम तो आती रहीं।
बंशी सबद सुनि सेजिया पे रहेली रामा, अपने मोहन के लेके सुलाती रहीं।
बंशी काहे के बजावो, हम तो आती रहीं।

इस गीत के साथ सखियाँ (नर्तक वृन्द) झूम-झूमकर नाचती हैं। कृष्ण जी भी बीच में बंशी बजाते हुए नाचने लगते हैं। इधर दूसरे छोर पर दाढ़ी-जटा को हिलाते तथा भोंपा बजा-बजाकर ऊधो बाबा भी नाचने लगते हैं। लबरिउवा अपनी विचित्र वेशभूषा में हाव-भाव दिखाते हुए कभी वृत्ताकार नाच के बाहर और कभी अन्दर घुसकर नाचने लगता है। बीच-बीच में वह सखियों और कृष्ण पर कटाक्ष भी करता जाता है। नृत्य के समापन पर सखियाँ फिर दूसरा गीत गाती हैं —

बंशी बजाया कवनी बेर हो मुराली प्यारे,
बंशी सबद सुनि सेजिया पै रहली,
लागे करेजवा में बान हो मुराली प्यारे।

यहाँ लोकनाट्य 'कोंहरऊ नाच' का द्वितीय दृश्य समाप्त हो जाता है। पुनः जोकर की विनोदपूर्ण वार्ता शुरू होती है। तृतीय दृश्य सखियों के जमुना स्नान से शुरू होता है। नीली साड़ी के दो छोरों को दो व्यक्ति अगल-बगल पकड़कर हिलाते हुए जमुना की लहरियों का आभास कराते हैं। पास में किनारे एक पेड़ की डाली लेकर कृष्ण बैठे रहते हैं, जो उनके कदम्ब की डाली पर बैठने की स्थिति का आभास करा देता है। साड़ी के एक किनारे पर दर्शक के मानस लोक में कल्पित जमुना की धार में सखियाँ नहाने का अभिनय करती हैं। नहाने के समय की गीत की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

नहाने में सखी कैसी बहार है, नहाने में।
नहाने में सखी कैसी बहार है।
जमुना लहर आवे साँझे सुहाने में।
नहाने में सखी कैसी बहार है।

गोपियों के स्नान के समय उद्धव बाबा कहते हैं। 'लाव बच्चा हम पीठ मलि देई।'

इस पर सखियाँ हँसने लगती हैं और उद्धव जी को धक्का दे देती हैं। इसी समय वे जल भरने का भी अभिनय करती हुई निम्नलिखित गीत गाती हैं –

चल-अ हो सखी जमुना में जल भरि लाई,
जमुना किनारे एक दरजी के छोकड़वा,
चला हो सखी चौलिया मोल करि आई।
जमुना किनारे एक छोटा बलकवा,
चला हो सखी जदुवा मारि के ले आई।
चल-अ हो सखी जमुना जल भरि आई।

सखियाँ स्नान कर जमुना किनारे कदम वृक्ष पर बैठे कृष्ण जी से चीर के लिए प्रार्थना करती हैं, बार-बार हाथ जोड़ती हैं और यह गीत गाती हैं –

कुंज बिहारी हो लाला चिरिया दे देवे,
ले के चीर कदम चढ़ि बैठे, हम जल माँझ उधारी हो।
लाला चिरिया दे देव-अ।
कृष्ण मुरारी हो लाला चिरिया दे देव-अ।

कृष्ण जी बार-बार कहते हैं कि हमने चीर नहीं लिया है। उद्धव जी इस समय गोपियों को चिढ़ाते हैं, मजाक करते हैं और तंग करने के बाद कृष्ण से चीर दिलवाते हैं। चीर पाने के बाद सखियाँ नाराज होकर कृष्ण की बंशी छीनने लगती हैं। उस समय कृष्ण जी यह गीत गाते हुए उद्धव की गुहार लगाते हैं।

छोरेली हो ऊधो राधे मोर बँसुरिया,
हाथ मुरेरे बंशी के छोरें, रोवलें कन्हइया धरा।
के चली, ऊधो राधे मोर बँसुरिया छोरेलीं हो।

कृष्ण की बँसुरी छीनकर राधा और उनकी सखियाँ एक किनारे हट जाती हैं। कृष्ण, उद्धव जी प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी बंशी राधा से दिलवा दें। कृष्ण जी की गोहार पर उद्धव राधा के पास बंशी माँगने जाते हैं। राधा उद्धव जी का चरण स्पर्श करते हुए कहती हैं- 'कल्याण हो बचवा, चर-चर चइला फाटे, चूल्ही तर मदार जामे, कुकुरे के नाई दुआरे-दुआरे घूम-ऽ, खुशगण्ड रहऽ ये बचवा।'

उद्धव जी को प्राप्त इस आशीर्वाद के साथ नाटक का तृतीय दृश्य समाप्त होता है और गोपियों के दही बेचने के अभिनय के साथ चतुर्थ दृश्य शुरू होता है।

चल सखी दही बेच लाई,
नन्द दुआरे एक ग्वालिन आई, सबद सुनावे कोई लेगा दही हो।
अपनी महलिया से कान्हा पुकारें, हम ग्वालिन दही लेब हो।

कृष्ण जी गोपी से पूछते हैं—

कहँवा की तुम प्यारी सुन्दरी, काहु तोहरा नाम है।

सखी लोग उत्तर देती हैं—

गोकुला की मैं प्यारी सुन्दरी राधे सखी मोर नाम है,
लेना हो तो दही ले लो कन्हइया, देर भई घर जात हैं।

राधे नामक गोपबाला के सिर पर मटुकी के स्थान पर एक लोटा है। कृष्ण दही लेते समय लोटा में टुन्न से मार देते हैं। दही लेते हुए पुनः कृष्ण बंशी माँगते हैं। गोपियाँ इस समय कृष्ण से पूछती हैं।

सुन—सुन हे कान्हा महाराज, बँसुरिया कैसी होती है,
हव मोहन तूँ निरा निठल्ला, सुरति निहरल—अ मोर,
घराँ—घराँ के माखन खइल—अ, भइल—अ नगरिया में सोर।
मुरलिया हमरे राम कान्हा मो तो नयनों न देखल।

तब कृष्ण जी जवाब देते हैं—

दुनियाँ भर में शोर भइल ना जाने कछु तोर,
पकी ठगिनियाँ तूँ हमके ठगलू सुरति देखा के गोर,
बंशी हमरी दें दें तुहसे अरज करीं ब्रजनारी।

बंशी के लिए राधा और कृष्ण में बड़ी देर तक नोक—झोंक, छीना—झपटी चलती है। उद्धव जी किनारे से आनन्द लेते रहते हैं और कृष्ण की सहायता करते हैं। जोकर राधा की ओर से रहता है। काफी नोक—झोंक के बाद राधा से कृष्ण बंशी पा जाते हैं और यहाँ आकर कृष्ण—लीला या रास—लीला समाप्त हो जाती है। समापन के समय उद्धव जी गणेश जी की स्तुति करते एक भजन गाते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र के कोंहरऊ नाच में प्रदर्शित होने वाले कृष्ण—लीला का यह प्रसंग ब्रज क्षेत्र के प्रसिद्ध लोकनाट्य रासलीला से किसी प्रकार कम आकर्षक नहीं है।

रासलीला के उद्भव के मूल में जो भी कारण हों, प्रचलित अर्थ में रासलीला कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित नृत्य-अभिनयात्मक विविध लीलाओं का द्योतक है। नृत्य के साथ इसमें आंशिक रूप में संवादों एवं प्रधान रूप से संगीत का प्रसार है। मध्यकालीन उत्तर भारत में कृष्ण-लीलायें अपने लौकिक रंगमंच का विषय बनीं। रासलीला उसी परम्परा की सम्पत्ति है।³³ इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि बहुत सम्भव है की भोजपुरी लोकनाट्य कृष्ण लीला ब्रज की रासलीला से प्रेरित होकर उद्भूत हुई हो, क्योंकि ब्रज में रासलीला की बड़ी पुरानी और समृद्ध परम्परा मिलती है। यह अपने प्रस्तुतीकरण, अभिनय एवं संगीत में अगर सुदूर अंचल में बसे आसाम की कीर्तनियाँ, बंगाल की जात्रा तथा गुजरात में भवाई को प्रभावित कर सकती है,³⁴ तो समीप में बसे भोजपुरी क्षेत्र के लोकमंच को क्यों नहीं प्रभावित कर सकती। कोंहरऊ नाच में भी ब्रज की रासलीला के समान प्रारम्भ में आरती होती है, प्रेक्षक जनता आरती लेती है और आरती के थाल में रूपये-पैसे के रूप में भेंट चढ़ाती है। दोनों में थोड़ा सा अन्तर यह है कि ब्रज की लीला के अन्त में भी युगल छवि की आरती होती है तथा प्रेक्षक जनता आरती में रूपये-पैसे भेंट चढ़ाती है। भोजपुरी के कृष्ण लीला के अन्त में गणेश की स्तुति की जाती है। वैसे कोंहरऊ नाच की 'कृष्णलीला' में भी ब्रज की रासलीला के समान संगीत, नृत्य और अभिनय की त्रिवेणी बहती रहती है।

थारू नाच

उत्तर-प्रदेश और बिहार के उन क्षेत्रों में जो नेपाल की तराई से जुड़े हैं, निवास करने वाली जाति थारू कहलाती है। पं० गणेश चौबे ने इनकी स्थिति का परिचय इस प्रकार दिया है, 'The Tharus belong to a semi-hinduised tribe inhabiting in Tharuhat, the land of Tharus, which is situated in the valley of the outer Himalayan range in Nepal as well as in the jungles of the bordering Indian states like U. P. and Bihar. They are honest, simple and cheerful people passing their leisuers in hunting, fishing, dancing, singing and merry making.'³⁵

बिहार प्रान्त में पश्चिमी चम्पारन जिले के पश्चिमोत्तर स्थित वगहा, रामनगर और शिकारपुर थाने के कुछ भाग तथा उत्तर-प्रदेश के बस्ती और गोरखपुर जिले के उत्तरी तराई से सटे भाग सम्मिलित रूप से 'थरूहट' कहलाते हैं।

इनकी मातृभाषा 'थरूहट भोजपुरी' है। ये ईमानदार, परिश्रमी, शिकारी तथा

नृत्य-संगीत के प्रेमी होते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाला नाच थारू नाच कहलाता है। सामान्यतया अपने विवाह-शादी में तो ये लोग अपना जातीय नाच सट्टे पर ले ही जाते हैं, मुख्य पर्व माघ-संक्रान्ति (माघी खिचड़ी) तथा कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर ये शराब पीकर मस्ती में सारी रात नाचते रहते हैं।

बस्ती के उत्तर नेपाल राज्य में थारूओं की बस्तियों में परिभ्रमण करते हुए प्रस्तुत लेखक को भलुही (जिला-कपिलवस्तु, नेपाल) के श्री दलबहादुर कुचिला तथा रहटकोट (जिला-कपिलवस्तु, नेपाल) के श्री सत्य नारायण दमड़ी से थारू नाच की जो विस्तृत जानकारी मिली, उसका विवरण इस प्रकार है-

'भोजपुरी के अन्य जातीय नृत्य-नाट्यों के समान इनके नाच में भी नृत्य की ही प्रधानता रहती है। इस नृत्य के साथ स्वांग धरने एवं अभिनय का भी आयोजन उसी प्रकार होता है, जिस तरह 'गोंड़ऊ नाच' में होता है। 'गोंड़ऊ' की ही भाँति थारू नाच भी अब व्यावसायिक स्तर पर सम्पन्न होता है, जिसकी विवाह-शादी के अवसरों पर धूम रहती है।'

इस नाच में समाजियों की संख्या 10 से लेकर 12 तक होती है। नर्तक दो से लेकर चार तक होते हैं। नर्तकों के पहनावे में साड़ी, ब्लाउज न होकर थारू औरतों में प्रचलित अंग-वस्त्रों लहंगा और चोली सम्मिलित रहता है। पुरुषों का पहनावा सामान्य होता है, किन्तु सिर पर और कटि प्रदेश में मयूर पंख बँधे रहते हैं, जो स्वांग करने के समय बड़े आकर्षक लगते हैं। इनके पैरों में घुँघरू बँधे रहते हैं। एक विदूषक होता है जो स्वांग में खलनायक की भूमिका अदा करता है। मुख्य बाजा मादल (ढोलक के आकार का मृदंग) और काँसी है, डंडताल और मँजीरा भी रहता है।

अभिनय में अधिकांशतः स्त्री-पुरुषों के दैनिक जीवन की घटनाएँ, जैसे- स्त्रियों का फूहड़पन, स्त्री के मान करने पर मनाने की क्रिया, पति के अधिक दिनों बाद परदेश से लौटने पर पत्नी द्वारा उसका स्वागत करना आदि प्रदर्शित होने वाले मुख्य विषय होते हैं। स्वांग के प्रारम्भ में काली, डिउहार (डीह) बाघेश्वरी भवानी की स्तुति की जाती है।

एक स्वांग में नायिका नायक द्वारा सिन्दूर न लाने तथा झुलनी न गढ़ाने से रूठी हुई है। नायक को वह 'डोमरा' कहकर सम्बोधित करती है। नायक पहले नायिका को धमकाते हुए कहता है -

डोमरा- डोमरा मत कह डोमरी, डोमरा तोंका धमकाय देई।

पुनः वह नायिका का मनावन करते हुए कहता है—

सेनुरा— सेनुरा मत कह गुजरी, तोहें सेनुरा मँगाय देबे,
मोर दिल तोर दिल एक हो जइहें, तोहें गले से लगाय लेबें।

इसी प्रकार झुलनी की माँग करने पर पति कहता है।

झुलनी—झुलनी मत कह गुजरी, झुलनी तोहें मँगाय देबे,
तोर दिल मोर दिल एक होइ जइहें, तब तोको झुलनी गढाय देबे।

एक दूसरे स्वांग में पति अधिक रात बीतने पर घर लौटता है। पत्नी से किवाड़ खोलने के लिए आग्रह करता है। पत्नी शंका करती है। नीचे के गीत में पति की प्रार्थना और पत्नी की शंका के कितने मनोहारी वर्णन है।

पति— खोलु—खोलु—खोलु रे धाना, बजर केवड़िया हे,
अब सुनु साजन धनियाँ झिंसिया परल देहियां भीजल मोर।

पत्नी— कैसे खोलूँ स्वामी ये बाटें बजर केवड़िया हो,
अब सुनु साजन है, इतना रइनियाँ कहाँ गंवाइल बलमू॥

पति— एतनी रइनियाँ रे धाना सोनरा दुकनियाँ हे,
अब सुनु साजन धनियाँ तोहें जोगे रतना बेसाहों धनियाँ॥

पत्नी— नहीं पतिआवों स्वामी तुहरो बचनियाँ हे,
अब सुनु साजन, तुलसी चउरवा छुई घर आवो हो बलमू॥

पति— कइसे के छुवों रे धाना तुलसी चउरवा हे,
अब सुनु साजन हे सिरके सेनुरवा तोर होइहें दुलम धनियाँ॥

तुलसी चउरवा छुई हम मरि जइबे हे,
अब सुनु साजन धनियाँ तुम करि लेउ दूसरा भतार धनियाँ॥

इस प्रकार थारू नाच में गीत और वाद्य यंत्रों के साथ छोटे-छोटे स्वांग ही प्रस्तुत किये जाते हैं। आजकल थारूओं में भी कुछ ऐसी व्यावसायिक स्तर पर कार्य करने वाली मण्डलियाँ बनी हैं, जो भोजपुरी में ही 'दमाद-वध', 'किचवा वध', 'मोती किसान' आदि नाटक करते हैं। नाटक पार्टियों में काम करने वालों को, विशेषकर मण्डली के नेता तथा सूत्रधारों को यहाँ के लोग 'मस्टरवा' कहते हैं।

इस स्वांगपूर्ण नृत्य से परे हटकर थारुओं में पुरुषों का 'झूमड़ा नृत्य' तथा स्त्रियों का गोल बाँधकर झुण्ड में 'झपट्टा मारना' नृत्य अधिक लोकप्रिय है। 'झपट्टा मारना' नृत्य के साथ गीत भी होता है। एक अत्यन्त सरस, सुमधुर और श्रृंगार रस से सराबोर 'झपट्टा मारना' का लोकगीत द्रष्टव्य है –

छोटका देवरवा सइयाँ बाड़ा लहलबजा,
 धइले अँचरवा के कोर हो बलमुआँ ।।
 सारी हमरो फरले देवर चोली मसकवले,
 बहियाँ दिहलें झकझोर हो बलमुआँ ।।
 सावन-भदउवा के निसि अधि रतिया हो,
 आइ गइले महले में चोर हो बलमुआँ ।।
 सइयाँ हमरो रहतें राम चोरवा पकड़िते,
 छूट जइतें देवरु के बान हो बलमुआँ ।।³⁶

स्वांग-प्रधान लोकनाट्य

लोकनाट्यों में स्वांगों का विशेष स्थान है। दूसरे का रूप अपने पर आरोपित अथवा अनुकृत करने के लिए जो स्वरूप बनाया जाता है, उसे स्वांग कहते हैं। अपने पर दूसरे का वेश धारण करने वाला वेश परिवर्तन कर अपने खेल-तमाशे इस रूप में प्रदर्शित करता है कि कभी-कभी मूल और अनुकरण का भेद करना कठिन हो जाता है। नाना प्रकार की वेशभूषा पहनकर या विचित्र सी शक्ल-सूरत बनाकर नकल पेश करने का नाम स्वांग है।

मध्यकाल में उत्तर भारत में दूसरे का स्वरूप बनाकर नकल उतारने की एक समृद्ध परम्परा रही है। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पद्मावत' में एक स्वांग का उल्लेख किया है, जिसमें एक वेश्या जोगिन का रूप धारण कर अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ भेजी गई।³⁷

पातुरि एक हुति जोगि सवांगी । साह अखोर हुत ओहि माँगी ।
 जोगिनि भेस वियोगिन कीन्हा । सींगी सबद मूल तत लीन्हा ।।

जायसी के पूर्व कबीरदास के समय में स्वांग और तमाशा का इतना अधिक प्रचार था कि साधु-महात्माओं के उपदेशों पर लोग ध्यान देना बन्द कर दिये थे। कबीरदास जी कहते हैं –

कथा होय तहँ श्रोता सोवै, वक्ता मूँड़ पचाया रे।
होय जहाँ कहीं स्वांग—तमाशा, तनिक न नींद सताया रे।।³⁸

इन दृष्टान्तों का सन्दर्भ देते हुए डॉ० दशरथ ओझा ने स्पष्ट कहा है कि, 'स्वांग और तमाशा उस समय (मध्यकाल में) अत्यन्त आकर्षक रूप में होते थे। स्वांग जनता के मनोविनोद का प्रधान साधन बना था, तभी तो कबीर ने इसका उल्लेख किया।'³⁹

हिन्दी प्रदेश में लौकिक स्वांग नाटकों के प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। फ्रांसीसी इतिहासकार गासॉ द तासी महोदय ने इसे लौकिक मनोरंजन के साथ-साथ भारतवासियों के निन्दा और व्यंग्य का एक साधन कहा है। तासी महोदय ने 'एशियाटिक जर्नल' (नई सीरीज, जिल्द-22, पृ०-37) से अपने 'हिन्दुई साहित्य के इतिहास' में एक व्यंग्य-प्रधान स्वांग का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

शताब्दियों से लोकजीवन में स्वांग धरने की परम्परा मौखिक चली आ रही है, इधर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लेखबद्ध स्वांग का प्रमाण मिलता है।

सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी जनपदों में (भोजपुरी क्षेत्र सहित) शादी-विवाह, पुत्रोत्सव, त्योहार आदि के अवसरों पर स्वांग और नकलों का काफी रिवाज है। शादी के अवसर पर भोजपुरी क्षेत्र की ग्रामीण स्त्रियाँ रतजगा के लिए अपने भाँति-भाँति के नाटक करती हैं, जिन्हें 'डोमकच' या 'जलुवा' कहते हैं। होली आदि के अवसर पर पुरुष भी स्वांग करते हैं और ढोल-ढमाकों के साथ हुड़दंग मचाते हैं। ये लोग बहुधा पास-पड़ोस के निन्दनीय चरित्रों पर व्यंग्य भी करते हैं।

स्वांग में श्रृंगारिक चेष्टाओं का अभिनय अधिक रहता है। कभी पुरुष, स्त्री का और कभी स्त्री, पुरुष का स्वांग बनाकर नाना प्रकार के हाव-भाव द्वारा नृत्य करते हैं। स्वांग की क्रिया लगभग रात भर चलती रहती है। कभी-कभी चेहरे को रंगकर शेर, भेंड़िया, चीता आदि का रूप बना दिया जाता है और उन्हीं के अनुरूप बोली भी बोली जाती है। यह प्रक्रिया प्रायः भोजपुरी क्षेत्र में स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित होने वाले 'डोमकच' में मिलती है।

स्वांग लोकनाट्यों में नृत्य-गीत, लय और संवाद सबकी प्रधानता होती है। विशेष संवाद श्रृंगार और हास्यपूर्ण होते हैं। रंगमंच की कोई विशेष योजना नहीं मिलती है। कभी खुले आकाश के नीचे भूमि पर या कभी चौकी बिछाकर मंच का कार्य पूरा किया जाता है। जहाँ तक प्रकाश की बात है, अगर स्वांग दिन में प्रदर्शित होता है, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु रात में होने पर लालटेन, पेट्रोमेक्स या बिजली का प्रकाश जो भी सुलभ हो किया जाता है।

भोजपुरी क्षेत्र में मुख्य रूप निम्नांकित स्वांग प्रचलित हैं। होली के स्वांग, व्याह—शादियों के प्रहसन, बहुरूपियों के स्वांग, पँवरियों के खेल, दुलदुल।

होली के स्वांग

भोजपुरी क्षेत्र में होली के अवसर पर स्वांग करने की बड़ी प्रचलित प्रथा है। यह स्वांग मुख्य रूप से पुरुषों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। गाँव के चौपाल या किसी चौराहे पर, या जहाँ होलिका—दाह होता है, गाँव के लोग एकजुट होकर जोगीड़ा और कबीर के साथ गाँव के मक्खी—चूसों, मनचले लोगों तथा धूर्तों पर व्यंग्यपूर्ण अभिनय प्रस्तुत करते हैं। 'गोदान' में मुंशी प्रेमचन्द द्वारा वर्णित होली के स्वांग के वर्णन को उद्धृत कर यहाँ उसके स्वरूप का परिचय दिया जा रहा है, जिसमें गाँव की युवा पीढ़ी ने ठाकुर झिंगुरी सिंह की अच्छी खबर ली है, जो इस प्रकार है।

'गिरधर झिंगुरी सिंह का रूप धरे अपनी मण्डली के साथ खड़ा हुआ तो लोगों को खड़े होने की जगह भी न मिलती थी। वह खल्वाट सिर, बड़ी—बड़ी मूछें और वही तोंद। बैठे भोजन कर रहे हैं और पहली ठकुराइन बैठी पंखा झल रही है।'

प्रेमचन्द जी भोजपुरी क्षेत्र के रहने वाले थे। उन्होंने अपनी आँखों से भोजपुरी क्षेत्र के ग्रामीण युवकों द्वारा होली के अवसर पर विभिन्न प्रकार के नकल उतारने का प्रदर्शन प्रत्यक्ष देखा था। आज भी कहीं—कहीं उत्साहपूर्ण ढंग से स्वांग प्रस्तुत होते हैं, यों होली पर रसिया, फाग और जोगीड़ा गाने की परम्परा तो सर्वत्र है।

बहुरूपिया का स्वांग

एक ही व्यक्ति जब अनेक रूप धारण कर दर्शकों का मनोरंजन करता है, तो वह बहुरूपिया कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि बहुरूपिया वह व्यक्ति है, जो बहुरूपी स्वांग धारण कर अपनी आजीविका उपार्जन करता है।

उत्तर भारत में बहुरूपियों के स्वांग की परम्परा बहुत पुरानी और व्यापक है। तेरहवीं शताब्दी में अब्दुल रहमान रचित 'सन्देश रासक' से इस बात का पुष्ट प्रमाण मिलता है कि बहुरूपिये वेश बनाकर नाटक खेलते थे। यथा—

कहव टाई चउवेइहिं वेउ पयासियइ,
कह बहु रूविणि बढउ रासउ भासियइ।'⁴⁰

बहुरूपियों के द्वारा नाटक खेलने और स्वांग करने की प्रथा संत ज्ञानेश्वर के

समय में प्रचलित थी। इस मत का समर्थन मराठी के प्रसिद्ध लेखक विश्वनाथ पांडुरंग दांडेकर करते हैं –

*ज्ञानेश्वरांच्या कालौत बहुरूप्यांची सांगे, साइखंडेचाचे खेल,
अणि नटांची नाटके या विविध रूपाने नाटकलेवी ओपासना निःसंशय होता होती।⁴¹*

तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल से चली आती इस परम्परा के तेरहवीं शताब्दी से लोकनाट्य कला के रूप में प्रचलित होने का प्रमाण प्राप्त होता है। डॉ० दशरथ ओझा तो स्पष्ट रूप से 'संदेश रासक' को श्रव्य काव्य न मानकर दृश्य काव्य मानते हैं और इसे बहुरूपियों द्वारा प्रदर्शित अथवा अभिनीत किया जाना स्वीकार करते हैं।⁴² सत्रहवीं शताब्दी के विरचित बरकत उल्लाह साहब के 'प्रेम प्रकाश' में रूप भरने का प्रयोग पाया जाता है। इस सम्बन्ध में 'बहुरूपिया' शब्द की ओर भी ध्यान जाता है। भारतीय जनवर्ग में रूप भरने की कला का प्रचार इसके द्वारा भी सिद्ध होता है।⁴³

कुछ विद्वान मानते हैं कि बहुरूपिया मुगल दरबार का एक आकर्षण होता था। जब हम इस सम्बन्ध में प्राचीनतम ऐतिहासिक तथ्यों को खोजते हैं तो एक मात्र अबुल फजल की 'आईने अकबरी' की कुछ पंक्तियाँ ही हमारी सहायता करती हैं, जो यदुनाथ सरकार के अनुसार निम्न प्रकार हैं। 'दि भगतिया हेव सांगस सिमिलर टु एबभ (कीर्तनियों), बट दे ड्रेस-अप इन वेरियस डिस्युसेज़ एण्ड एक्जिबिट एक्स्ट्राडिनरी मिमिक्री।'⁴⁴

मध्यकाल में तो बहुरूपियापन का एक प्रकार का धन्धा हो गया था, जो आज तक उसी रूप में चल रहा है। बम्बई के सुप्रसिद्ध चरित्र अभिनेता सज्जन अपने 'वन मैन शो' के लिए भारत में विख्यात है। यह 'वन मैन शो' और कुछ नहीं बल्कि बहुरूपिये जैसा अभिनय ही है। सज्जन दो घण्टे में बाइस रूप धारण करते हैं और सभी व्यक्तियों के अनुरूप वेशभूषा, संवाद और हाव-भाव के अलग-अलग प्रदर्शन करते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में बहुरूपिया के स्वांग की परम्परा मध्यकाल से ही चली आती हुई आज आजीविका कमाने के स्रोत के रूप में हो गई है। बहुरूपिये मुख्यतः पुरुष जाति के ही होते हैं। ये डाइन, पनिहारिन, मेहतर, मुनीब, डॉक्टर, अमीन, काली, शिव, विष्णु और हनुमान आदि नाना प्रकार के रूप धारण कर दरवाजे-दरवाजे, दुकान-दुकान घूमकर प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार आधुनिक रूप भी धारण करते हैं। ये लोग मूल पात्र के अनुरूप वस्त्र, आभूषण, पेंट, गेरू, रोगन का लेप लगाकर नाना प्रकार के पात्रों का स्वांग दिखाते हैं। बहुरूपिया जब काली का वेश धारण करता है तो काला कपड़ा

पहनकर मुकुट बाँधता है। कभी-कभी एक हाथ में तलवार दूसरे में खप्पर रखता है। कस्बों, नगरों में मुनीम का स्वांग रचकर वही खाते की किताब बगल में दबाकर, चश्मा लगाकर हाथ में छड़ी लिये हुए सेठों-महाजनों के ऊपर कर्जा निकालता है और कहता है कि वे हिसाब जल्दी चुकता कर दें, क्योंकि उसे साढ़े तेरह बजे की गाड़ी से दूसरे शहर में चला जाना है। कभी काले वस्त्र के साथ हरे और लाल रंग का वस्त्र पहनता है जो घुटने के नीचे तक लटकता रहता है। हनुमान रूप में अपनी एक लम्बी सी पूँछ बना लेता है और दुकान-दुकान कूदते हुए पहुँचता है, पीछे से लड़के और कुत्ते दौड़ते रहते हैं, डाक्टर का रूप धरते समय आला गले में लटकाये, साथ में डॉक्टरी का बैग लिए हुए मरीज देखने का अभिनय करता है।

बहुरूपिये का कोई मंच नहीं होता, अपितु गाँव का प्रत्येक आँगन, प्रत्येक दरवाजा और प्रत्येक गली का नुक्कड़ उसका मंच होता है। इनका अभिनय और प्रदर्शन एक स्थान पर काफी देर तक रुककर नहीं होता, बल्कि यात्रा जारी रहती है और साथ-साथ अभिनय और प्रदर्शन भी चलता रहता है, जो रूप बदलते-बदलते या अभिनय करते-करते अपना मूल रूप प्रायः भूल जाते हैं और बहुरूपिये वाला अपना कृत्रिम रूप ही उनके वास्तविक जीवन का एक अंग बन जाता है। शाहाबाद जिले के बनउर तथा बड़का गाँव जैसी बस्तियों में बहुरूपियों की एक छोटी सी बस्ती ही बस गई है। डॉ० सरोजनी रोहतगी के अनुसार 'रास नाटकों का अभिनय दिखाने वाली एक जाति भी बन गई थी, जिसका व्यवसाय ही विशेष रूप धारण करके अभिनय द्वारा जीविकोपार्जन करना था। यह समस्त उत्तर भारत में पाई जाती है और आज भी उसका व्यवसाय वही है। इस जाति को बहुरूपिया कहते हैं।'⁴⁵

बहुरूपिया के अभिनय में गीत का कोई स्थान नहीं होता है, किन्तु जब वह नाना रूप धारण करके दर्शकों के बीच में पहुँचता है तो दर्शकों से उसका जो संवाद होता है, वह स्थानीय लोकभाषा में ही होता है। जैसे अगर बहुरूपिया अपना प्रदर्शन भोजपुरी क्षेत्र में कर रहा है तो बातचीत भोजपुरी में, अगर अवधी क्षेत्र में कर रहा है तो संवाद अवधी में और अगर ब्रज क्षेत्र में है तो संवाद ब्रजी में करता है।

बहुरूपिये का प्रदर्शन भोजपुरी लोकनाट्य में इसलिए है कि बहुरूपिया भोजपुरी अंचल के गाँव-कस्बा और नगरों में रूप परिवर्तन के द्वारा अन्य पात्रों का अनुकरण कर अपने ढंग से दर्शकों से संवाद करता हुआ या साथ के किसी सहयोगी से संवाद करता हुआ नाटकीय वातावरण की सृष्टि करता है।

पँवरिये का खेल

‘पँवरिया’ पुरुषों का एक ऐसा पेशेवर वर्ग है जो किसी घर में बच्चा होने पर नाच-गान और अभिनय के द्वारा नेग प्राप्त करते हैं। भोजपुरी क्षेत्र में पँवरियों की कई जमातें हैं। जिस समय पँवरिया लोगों का समूह बच्चा पैदा हुए घर के दरवाजे पर अपने चूड़ीदार पायजामा, अचकन, पगड़ी या घाघरा में सज्जित होकर नृत्य और गीत के साथ अभिनय शुरू करते हैं तो एक छोटे-मोटे लोकनाट्य की झलक मिल जाती है। वीरगाथा की कहानियों का अभिनय के साथ गायन करते समय ये तलवार, भाला, तेगा आदि चलाने का नाट्य करते हैं। जब दो पँवरिया पैतरा बाँधकर एक-दूसरे पर वार करने का अभिनय करते हैं, उस समय सही युद्ध का स्वरूप साकार हो जाता है।

इनके नृत्य और अभिनय से पूर्ण गीतों के विषय प्रायः आल्हा-ऊदल, मान गुजरिया, राजा परसोतिम, मामा-भगिना, कुँवर सिंह, चेत सिंह आदि अर्द्ध ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्र हैं। शाहाबाद जिले में पँवरिया लोगों ने कुँवर सिंह के वीरकाव्य को अपने नृत्य-गीत का माध्यम बनाया है। इन लोगों की बस्तियाँ भोजपुर जिले में डुमराँव के आसपास भी हैं।

यों पँवरिया नाच में नृत्य और गीत के अलावा अभिनय और स्वांग का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, फिर भी वीरों का बाना धारणकर नकली युद्ध का स्वांग प्रस्तुत करते समय पँवरियों द्वारा जो आंगिक चेष्टायें की जाती हैं, वे सब निःस्संदेह नाटकीय वातावरण की ही सृष्टि करते हैं, इसलिए भोजपुरी लोकनाट्य की परिधि में यह नाच भी आ जाता है।

दुलदुल या लिल्ली घोड़ी के प्रदर्शन

यह एक प्रकार का अश्व नृत्य है। अंग्रेजी में इसे ‘मिमिक हार्स’ कहते हैं। इसमें बाँस की खपच्चियों पर घोड़े के धड़ और सिर का निर्माण किया जाता है। उस पर रंगीन कागज और पन्नी काटकर लगा देते हैं। यह घोड़ा बिना पाँव का होता है। पाँव की जगह इसके चारों ओर कपड़ा लगा दिया जाता है, ताकि नाचने वाले के पाँव बाहर दिखाई न दे सकें। भोजपुरी भाषी क्षेत्र में इन्हें नचाने का काम प्रायः मुसलमान जाति के ही लोग करते हैं। इनकी आजीविका का साधन भी यही स्वांग है। ब्याह-शादियों पर ये लोग घोड़े का नृत्य दिखाकर नेग प्राप्त करते हैं।

इस नृत्य में एक ढोलक वाला रहता है और दूसरा नर्तक रहता है, जो उस घोड़े की आकृति को अपनी कमर पर धारण करता है। ढोलक वाला ढोलक पर थाप देता है

और नकली घोड़े पर सवार तुर्क घोड़े पर चाबुक से जोर से मारता है। घोड़े के दौड़ने का स्वांग प्रस्तुत करते हुए वह आदमी जोर से दौड़ लगाता है। उसकी घुड़दौड़ लगभग कई फलॉग के इर्द-गिर्द में होती है। इस कौतुक को देखकर दर्शक को यही प्रतीत होता है कि वास्तव में कोई घुड़सवार दौड़ लगा रहा है, पास में खड़ा ढोलकिया ढोलक पर थाप भी देता है और गीत भी गाता है।

कहीं-कहीं इस कठघोड़वा नाच के साथ एक स्त्री स्वांगिया भी होता है। घोड़ा नचाने वाले और स्त्री स्वांगिया में आपस में दोहों के बड़े चुटकीले, सवाल-जवाब चलते रहते हैं, जो बड़े मीठे, रोचक और सरस श्रृंगारमूलक होते हैं। इन दोहों के साथ नृत्यकारी की भाव लहरियाँ वातावरण को अधिक आह्लादकारी बना देती हैं।

प्रदर्शन विधि

बिहार के चम्पारन जिले में इसे दुलदुल नाच कहते हैं, जबकि गोरखपुर, बस्ती में इसे लिल्ली घोड़ी नाच कहते हैं। चम्पारन के तरफ इस नाच की बड़ी समृद्ध परम्परा है। वहाँ ये घोड़े कई प्रकार से बनाये जाते हैं। कहीं-कहीं दो टोकरियों को दो बाँसों में बाँधकर उनके बीच में कुछ जगह छोड़ दी जाती है, ताकि नाचने वाले उस ढाँचे को अपनी कमर में बिठा सके। इन टोकरियों के एक सिरे पर घोड़े का सिर तथा दूसरे पर पूँछ के रूप में सन का काला रेशा लगा दिया जाता है। कहीं लकड़ी, बाँस तथा खपच्चियों के विपरीत तार और कागज की सहायता से भी घोड़े तैयार किये जाते हैं, जिन्हें रंग-बिरंगे कपड़ों से सजा दिया जाता है। नृत्यकार के पाँवों में बंधे रहते हैं। हाथों में तलवार तथा ढाल रहती है। ढोल, ताशे तथा झाँझ के साथ जब नृत्यकार के पाँव घोड़े के पाँव बन नृत्य के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं, तो तलवारों, डण्डों तथा पट्टों के हाथ घुमाते हुए युद्ध का भयानक दृश्य उपस्थित कर देते हैं। लड़ाई का यह नकली दृश्य दर्शकों में असली लड़ाई की उमंग भर देता है और उत्साह में उनकी भुजाएँ फड़क उठती हैं।

दुलदुल में जब अकेला नर्तक नृत्य करता है तो उसके साथ केवल ढोलकिया और स्वांगिया ही होते हैं, किन्तु जब वह मराठों और पठानों के लड़ाई का रूपक प्रस्तुत करता है तो सात व्यक्ति काम करते हैं। दो व्यक्ति घोड़ों पर सवार होकर युद्ध का अभिनय करते हैं, जो एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी होते हैं, दोनों के साथ एक-एक पैदल सिपाही होते हैं तथा तीन ढोलक, ताशा तथा झाँझ बजाने वाले होते हैं। इस तरह यह स्वांग गीत और नृत्य तथा ताल और लय का बड़ा ही सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है। सच पूछा जाय तो इसमें नाटकीय तत्त्वों का अभाव सा है, कहानी नाम मात्र की है, परन्तु गीत,

संवाद, हाव-भाव के द्वारा इस नृत्य को जो गति प्रदान की जाती है, उसमें नाटकीयता स्वयं आ जाती है। स्वांग बड़ा ही मनोहारी होता है। ढोलक की थाप पर पद-संचालन के समय प्रसंगानुकूल कथन का प्रस्तुतीकरण इस स्वांग के प्रदर्शन को द्विगुणित कर देता है।

(4) स्त्रियों द्वारा अभिनीत लोकनाट्य

भोजपुरी क्षेत्र के लोकनाट्यों में कुछ लोकनाट्य ऐसे हैं, जो केवल स्त्रियों द्वारा ही अभिनीत होते हैं। ये लोकनाट्य स्वांग के ही अन्तर्गत आयेंगे। इनमें पुरुष पात्रों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित होता है। इन लोकनाट्यों की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि इनमें दर्शक और प्रदर्शक दोनों स्त्रियाँ ही होती हैं। इनमें कुछ प्रदर्शन तो महिलाओं द्वारा व्याह-शादियों के अवसर पर (रतजगा) होते हैं, कुछ नवरात्र या अन्य पर्वों पर होते हैं, कुछ अनावृष्टि होने पर इन्द्रदेव की आराधना करने के लिए होते हैं, कुछ स्वतंत्र रूप से मात्र मनोरंजन के लिए होते हैं और कुछ व्यावसायिक स्तर पर विवाह-शादियों में मनोविनोद हेतु अभिनीत होते हैं। इस श्रृंखला में आने वाले भोजपुरी क्षेत्र में निम्नांकित लोकनाट्य प्रमुख हैं- 1. डोमकच, 2. जाट-जटिन, 3. श्यामा-चकेवा, 4. बगुला-बगुली, 5. सुगाना, 6. हर-परौरी, 7. गवनिहारिन की नाच।

डोमकच

डोमकच भोजपुरी क्षेत्र की स्त्रियों द्वारा अभिनीत होने वाला बहुत पुराना लोकनाट्य है। यह इतना व्यापक लोकनाट्य है कि हिन्दी प्रदेश की सभी बोलियों में लड़के के विवाह के अवसर पर महिलाओं द्वारा अभिनीत होता है। खड़ी बोली में इसे 'खोड़िया', अवधी में 'नकटौरा' या 'मनुवादर', उत्तर प्रदेश के भोजपुरी भाषी जनपदों में 'नकटा', 'जलुवा' या 'डोमकच' तथा बिहार में भोजपुर, मिथिला, मगध, अंग तथा वज्जि सभी क्षेत्रों में 'डोमकच' कहते हैं। बिहार की 'नाटकीय तथा नाटकीय प्राय लोकविधायें' विषय पर कार्य करने वाले डॉ० महेश कुमार सिन्हा ने इस लोकनाट्य का परिचय देते हुए लिखा है- 'यह एक मोहक लोकनाट्य है, इस लोकनाट्य की विशेषता है कि यह महिलाओं द्वारा आयोजित-अभिनीत होता है तथा इसके दर्शक भी महिलाएँ ही होती हैं। घर से जब बारात चली जाती है, तब उस घर की तथा पास-पड़ोस की महिलाएँ एकत्र होकर इस लोकनाट्य के माध्यम से रात भर जागकर अपना मनोरंजन करती हैं। नाटक के स्त्री-पुरुष दोनों पात्र होते हैं। इसका कोई मंच नहीं होता और प्रदर्शन के समय श्रोता और अभिनेता के बीच की दूरी का अनुशासन प्रायः ढीला होता है, क्योंकि यह कहना मुशकिल होता है कि कब कौन दर्शक या श्रोता अपनी जगह से उठकर नट या

नटी की पंक्ति में खड़ी हो जाय। इस लोकनाट्य में हास्य और व्यंग्य का विशेष पुट होता है।⁴⁶

जब लड़के के विवाह के लिए बारात जाती है, तब उसी दिन रात को घर की औरतें मन-बहलाव के लिए डोमकच का आयोजन करती हैं। इसके पीछे रात भर जागने की भावना छिपी हुई है, ताकि घर में चोरी न हो सके, इसलिए इसे 'रतजगा' भी कहते हैं। 'डोमकच' नाच पड़ने की पृष्ठभूमि में कारण निर्दिष्ट करते हुए डॉ० श्रीधर मिश्र ने लिखा है— 'जैसे डोम बहुत शोर करते हैं, गाली-गलौज करते हैं, वैसे ही उस रात औरतें करती हैं, उसी आधार पर इसका नाम 'डोमकच' पड़ गया।'⁴⁷

डॉ० दशरथ ओझा ने स्वांग की परम्परा में (सिद्ध खण्ड या विक्रम की नवीं शताब्दी) डोमिनी के आह्वान गीत में स्वांग का उल्लेख किया है। डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है— 'डोमिनी के साथ स्वांग करने का आह्वान उस काल की स्वांग-शैली को प्रमाणित करता है। डोमिनियों के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है। यह डोमिनियों का नाटक स्त्रियों के मध्य होता है। इस नाटक में डोमिनियाँ ही पुरुष-वेश में पुरुष-पात्र का अभिनय करती हैं।'⁴⁸ बहुत सम्भव है कि डोमिनियों के स्वांग ही भोजपुरी क्षेत्र में 'डोमकच' के रूप में विख्यात हो गया हो, क्योंकि इस हास्यपूर्ण प्रहसन में भी एक स्त्री डोम और एक डोमिनी का स्वांग बनाती है। डॉ० श्रीधर मिश्र ने भी लिखा है— 'डोमकच' का सम्बन्ध डोमिनियों के स्वांग से हो तो कोई बड़ी बात नहीं।'⁴⁹

इस हास्यपूर्ण नाटक के अभिनय के लिए लड़के की माँ या बुआ या कभी किसी अन्य महिला को भी जोतिन बनाया जाता है। कपड़े का या चारपाई के पाये का लड़का बनाया जाता है, सिर पर काला कपड़ा लपेट दिया जाता है, कौड़ी की आँख बनाई जाती है, बरें के दाने का दाँत बनता है। इसी बालक रूपी जलुवा के जन्म से विवाह तक की लीला होती है, इसीलिए इस प्रहसन को कहीं-कहीं 'जलुवा' भी कहते हैं। औरतों का विश्वास है कि यदि जलुवा सुन्दर होगा तो उसका अर्थ है कन्या सुन्दर है। इस नाटक में वर की माँ के अँगूठे को वर की बुआ मीसती है। औरतों का विश्वास है कि वह उस समय किस प्रकार की क्रिया करेगी, उसी प्रकार की क्रिया बहू भी करेगी। निम्नलिखित गीत भी पास में खड़ी औरतें गाती रहती हैं।

ओठवा जनि विदोरीह, ओठ विदोरन अइहें हो,
मुँहवाँ मत चमकइह, मुँह चमकावन अइहें हो,
ऐने-ओने बतिया जनि बतिअइह, बति चलावन अइहें हो,

दाँतवा जनि चियरीह, दाँत चिआरिन अइहें हो,
देहियाँ जनि डोलइह, देहि डोलावनि अइहें हो,
कुचरिया जनि करीह, कुचरी अइहें, दुचरी अइहें हो।

जो स्त्री आसन्न-प्रसवा का अभिनय करती है, बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रसव वेदना से कराहती है। सबसे पहले वैद जी आते हैं, वैद जी के वेश-विन्यास में धोती-कुर्ता, पगड़ी, गठरी (दवा की पोटली), हाथ में छड़ी और लोटा (जिसमें कंकड़ भरा रहता है) होता है। वैद जी आसन्न-प्रसवा औरत की नाड़ी की परीक्षा करते हैं। नब्ज देखने के साथ वे औरत के साथ अशोभनीय व्यवहार करते हैं, क्रोध के मारे अन्य स्त्रियाँ दरोगा जी को बुलाती हैं। इसी बीच डोमिनि दान माँगने आती है। उसको दान नहीं मिलता है। उसका डोम कलकत्ता नौकरी करने चला जाता है। प्रसव पीड़ा और नब्ज परीक्षा के बाद जलुवा पैदा होता है। इसके बाद उसके विवाह तक की पूरी घटनाएँ विभिन्न भाव-भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत की जाती हैं।

जलुवा के इस छोटे से कथानक में नाटकीयता की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। प्रारम्भ में ही जब वैद जी सन की बनी दाढ़ी बढ़ाये हुए, मिर्जई पहने, कंधे पर दवा की पोटली लटकाये एक हाथ में छड़ी और दूसरे हाथ में कंकड़ भरा लोटा लेकर गाँव की गली में वैद-वैद की पुकार लगाते हुए प्रवेश करते हैं तथा उनके पीछे कुत्ते का स्वांग बनाये हुए महिलाएँ भौं-भौं की आवाज करती हुई चलती हैं तो सचमुच के कुत्ते पीछे लगकर भौंकना शुरू कर देते हैं। वैद जी पुकारते हैं-

कान कऽ दरद ठीक करे वाला बैद,
पेट कऽ दरद ठीक करे वाला बैद।
बाहर कऽ लड़का भीतर करे वाला बैद,
भीतर कऽ लड़का बाहर करे वाला बैद।

जब दाइन बुलाने के लिए पुरुष बनी औरत दाइन टोली में पहुँचती है (सही रूप में दाइन टोली में न जाकर वहीं दर्शक औरतों के बीच में दाइन टोली की कल्पना कर ली जाती है) तो वहाँ दाइनों से बड़ी देर तक ठनगन होती है। दाइन कहती है कि साल भर तो हमको कुछ देते नहीं हैं और आज काम पड़ने पर आधी रात को चलने के लिए कह रहे हैं। पुरुष कहता है कि वह उसके लिए डोली या टैक्सी जो भी स्वीकार करे, व्यवस्था कर देगा, किन्तु वह तैयार नहीं होती है। अन्त में जब पुरुष दूसरी दाइन को एक पीयरी धोती का प्रलोभन देकर चलने के लिए कहता है तो आपस में दोनों दाइनें लड़ने लगती हैं। उनकी लड़ाई देखते ही बनती है, लिखते नहीं। अन्त में पुरुष पहली

दाइन को नार काटने के लिए ले जाता है। नहवावन का रस्म पूरा करने के लिए पुरुष को पंडित जी के यहाँ जाना होता है। पंडित जी तिलक लगाये, गले में रुद्राक्ष धारण किये, हाथ में पोथी-पत्रा लिये हुए आते हैं और हाथ पर विचार करते हुए साइत (मुहूर्त) बताते हैं।

शुक-शनीचर तेरही, मंगर के सबेरहीं, नहवनवाँ के साइत बा।

नहवावन के दिन औरतें पाँच सोहर गाती हैं। स्वांग के अन्त में पाँच औरतें जलुवा को लेकर घूमती हुई यह गीत गाती हैं।

केकरी हो महलियाँ हो ले के जाऊँ, जलुवा बड़ा हो बेहाल,
कि मोरे जलुवा के बथेला कपार।
सासु मोंके कहेलीं 'बंझिनियाँ' सासु मोरे देखहु हो होरिलवा,
केकरी हो महलियाँ ले के जाऊँ हो होरिला, बड़ा हो बेहाल,
कि मोरे जलुवा के बथेला कपार।

जलुवा का हास्यपूर्ण अभिनय पूरी रात चलता रहे, इसके लिए स्त्रियाँ मुख्य कथानक के अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे स्वांग पेश करती हैं। इन स्वांगों में चूड़ी बेचने वाली, सब्जी बेचने वाली, धोबी-धोबिन, साधू बाबा, डाइन, दरोगा जी, डोम-डोमिनि, सेठ-मुनीम, हरकिशुनी नौकर, अरजुनवाँ नौकर का अभिनय करती हैं।

चूड़ी वाली चूड़िहारिन जैसी रंगीन साड़ी पहनकर सिर पर चूड़ियों की पिटारी लिये हुए आवाज लगाती है।

केहू चूड़ी पहनी हो सुहागिनि।

दूसरी स्त्री- तुहार केवनी रंग चूड़िया ए चूड़िहारिन।
चूड़िहारिन- हमार सवुज रंग चूड़िया ए सुहागिनि।
स्त्री- तूँ का लेबू, तूँ का लेबू ये चूड़िहारिनि।
चूड़िहारिन- हम चाउर से देहब ए सुहागिनि।
स्त्री- हम कोदो से लेइब ए चूड़िहारिनि।
हम कोदो से लेइब ए चूड़िहारिन।
चूड़िहारिन- कमइया मोर डूबलि रे सजनी।
कमइया मोर डूबलि रे सजनी।

यही कहकर चूड़िहारिन नाचेगी।

इसी प्रकार सब्जी बेचने वाली सब्जी का टोकरा सिर पर रखे हुए निम्नलिखित पंक्तियाँ गाती जाती है और नाचती जाती है —

आलू है बुर घालू है, सोवा है बुर धोवा है,
मेंथी है, बुर चोंथी है। आदि

‘धोबी-धोबिन’ स्वांग में एक औरत धोबी का स्वांग करती है, कान में लोरकी, धोती-कुर्ता तथा कन्धे पर एक गट्ठर और एक धोबिन का स्वांग बनाती है। धोबी-धोबिन से कहता है—

मोटी-मोटी रोटिया पकड़हे धोबिनियाँ, बिहने चले के धोबी घाट।
धोबिनी तऽ धोवेलीं अड़ही-गड़हिया,
धोबिया धोवेला यमुना घाट, कि छियो राम।
धोबिनी के टँगिया में टँगना अंटकल
कि धोबिनी पराइल जाय, कि छियो राम।

सिपाही, दारोगा और गाँव के चौकीदार के स्वांग में अत्यन्त स्वाभाविकता देखने को मिलती है। दारोगा जी अपनी पूरी वर्दी में हाथ में सोटा लिये हुए आगे-आगे चलते हैं, उनके पीछे लाल टोपी धारण किये सिपाही और साथ में लाल पगड़ी सिर पर बाधे, कंधे पर लाठी लिये चौकीदार चलता है। इन तीनों व्यक्तियों का स्वांग बनाये हुए औरतें घर के आँगन से बाहर निकल कर किसी भी सोये हुए बूढ़े व्यक्ति की चारपाई के पास जाकर डाँटकर पूछती हैं कि चलो तुम्हें दारोगा जी बुला रहे हैं। दारोगा जी बनी महिला थोड़ी दूरी पर खड़ी रहती है। बूढ़ा व्यक्ति सकपकाते हुए अपने कसूर को पूछते हुए दारोगा जी के पास पहुँच जाता है। उस समय उस व्यक्ति की स्थिति देखते ही बनती है। कभी-कभी तो जब अन्य दर्शक स्त्रियाँ हँस देती हैं तो पर्दाफास उसी समय हो जाता है और कभी-कभी इसका राज दो-तीन दिन बाद तक छिपा रहता है। बूढ़ा व्यक्ति लाज के मारे किसी से कहता भी नहीं है।

कभी-कभी कोई स्त्री डाइन का स्वांग करती है। सिर पर सूप जिसमें चिराग जलता रहता है। एक हाथ में कूँची और दूसरे हाथ में खप्पड़ लिये हुए वह गाते हुए आती है —

नइहर खइलीं, सासुर खइलीं, खइलीं कुलि-परिवार,
सातो सवति के जामरि खइलीं, इनहूँ के खइलीं भतार,
माई मोर इहे व्यवहार।

अब हम चलत हईं ये ननदोईं!...

कहते हुए वह प्रस्थान करती है।

कहीं—कहीं अपने बालों को भयंकर रूप में बिखराकर, लहसुन का कृत्रिम दाँत बनाकर जब वह किसी सोये व्यक्ति के पास गुर्राहट पैदा करती है, तो सोया व्यक्ति चारपाई छोड़कर भाग खड़ा होता है।

इसमें एक हरबिशुनी नौकर का कमाल का चरित्र होता है। औरतें उससे पूछती हैं कि तुझे बारात में क्या—क्या खाने को मिला और क्या—क्या पहनने के लिए मिला। हरबिशुनी का उत्तर दर्शक महिलाओं में हँसी की गुदगुदी पैदा कर देता है, जब वह कहता है —

औरतें पूछती हैं— तूँ का का खइले बोल बोल रे हरबिशुनी।

हरबिशुनी— हम खइली, हम खइली पूड़ी कचौड़ी पकौड़ी तिलौड़ी, घुमघुमउवा
इमरती जिलेबी रसगुलवा चटपट मोल ये मलकीनी।

समूह स्वर औरतों का— और का का खइले बोल बोल रे हरबिशुनी।

हरबिशुनी— 'हम खइलीं हम खइलीं आसी—बेवासी, तेवासी, चौवासी, अखरल,
मखरल, लखरल, पखरल, पानी बेसन और खइलीं ये मलकीनी।'

इसमें स्त्रियाँ इसको अपने सम्बन्ध के अनुरूप गालियाँ भी देती हैं। उदाहरण के लिए विलरा नौकर का अभिनय करने वाली महिला से दूसरी महिला कहती है।

जहाँ भेजावो तहाँ जाबेरे बिलरा हाजिर बाबू हाजिर।

ननदी की सेजिया जाबे रे बिलरा हाजिर बाबू हाजिर।

'डोमकच' के अन्तर्गत जलुवा के जन्म से लेकर विवाह तक की घटना का अभिनय करने के साथ ऊपर वर्णित तमाम छोटे—छोटे स्वांग के अतिरिक्त बलिया, छपरा, गाजीपुर तथा आजमगढ़ जनपदों में भिखारी ठाकुर के लोकप्रिय नाटक 'विदेसिया', 'भाई विरोध' तथा 'गंगा—स्नान' के कथानक पर आधारित छोटे—छोटे हास्यपूर्ण लोकनाट्य भी अभिनीत होते हैं। चूँकि भिखारी ठाकुर सम्पूर्ण भोजपुरी क्षेत्र के जनमानस पर छाये हुए थे, इसलिए उनके नाटकों की लोकप्रियता को देखकर औरतें 'डोमकच' के अन्तर्गत उनका भी अभिनय करना प्रारम्भ कर दीं, फिर भी इन स्वांगों में भिखारी ठाकुर के नाटकों की कथावस्तु होते हुए भी संवादों की रचना औरतों द्वारा की गई है, गीत भी भिखारी

ठाकुर के गीतों से भिन्न हैं। इन नाटकों में लोकजीवन की सच्ची अभिव्यक्ति झलकती है, जो स्त्रियों द्वारा अभिनीत होने के कारण बड़ा ही चित्ताकर्षक और मनोहारी हो जाता है। इनमें पुरुषों के कामुक भाव का तथा समाज की कुरीतियों का सही चित्र दीखता है।

प्रदर्शन विधि

‘डोमकच’ का प्रदर्शन खुले आँगन में जहाँ हरीस गड़ी रहती है और हल्दी उठने की रस्म पूरी की जाती है, वहाँ होता है। मंच व्यवस्था के लिए किसी प्रकार की तैयारी की आवश्यकता नहीं होती है। अगर आँगन बड़ा हुआ तो चौकियों को जोड़कर एक खुला मंच बना लिया जाता है। प्रकाश-व्यवस्था के लिए किसी प्रकार की तैयारी की आवश्यकता नहीं होती है। लालटेन, पेट्रोमैक्स या बिजली जो भी सुलभ हो उसी रोशनी में अभिनय शुरू हो जाता है। वाद्य यंत्रों में ढोलक, मँजीरा और काँसे की थाली का प्रयोग होता है। पुरुष पात्रों की भूमिकाएँ निभाने के लिए उसी घर के पुरुष के प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाले वस्त्रों का उपयोग किया जाता है। पुलिस के ड्रेस के लिए गाँव में पढ़ने वाले एन० सी० सी० के छात्रों से ड्रेस उपलब्ध हो जाता है। चौकीदार के साफे के लिए गाँव के चौकीदार का साफा ही उपयोग में आ जाता है। स्वांग बनाने के लिए सन की दाढ़ी, नकली मूँछें, कालिख, चूना, काजल, लहसुन या बर्रे के दाँत, रुद्राक्ष की माला, सोटा, लाठी आदि का उपयोग होता है।

पात्रों की संख्या स्वांग के अनुसार बदलती रहती हैं। स्वांग के प्रारम्भ में आठ से दस औरतें गीत प्रारम्भ करती हैं और एक औरत नाचना शुरू करती है। इसके बाद मुख्य स्वांग तीन-चार पात्रों के संलाप से शुरू होता है। प्रदर्शन के समय दर्शक और अभिनेता के बीच की सीमा प्रायः समाप्त रहती है, क्योंकि यह कहना कठिन होता है कि कब कौन दर्शक अपनी पंक्ति से हटकर प्रदर्शक बन जाएगी। अभिनय के दौरान अगर मुख्य स्वांग प्रस्तुत करने वाले दर्शक महिलाओं के बीच आकर कुछ पूछती हैं तो दर्शक महिलाएँ उनके प्रश्नों का उत्तर इस ढंग से देती हैं, मानों वे भी इस स्वांग का अभिनय करने वाले पात्र हों जो दर्शकों में बैठ गई हों। इस रूप में यह एक ऐसा विशिष्ट लोकनाट्य है, जिसका दर्शक-प्रदर्शक होता है और प्रत्येक प्रदर्शक दर्शक। प्रहसन में अभिनय करने वाली महिलाओं का न तो कोई पूर्वाभ्यास होता है और न कोई प्रशिक्षण, फिर भी इनका अभिनय अपने उद्देश्य में सफल होता है और सही जगह पर व्यंग्य प्रस्तुत करता है।

इस प्रदर्शन में पुरुषों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित होता है। बच्चे प्रदर्शन स्थान पर बैठ सकते हैं। इस वर्जना का कारण यह होता है कि महिलाएँ उन्मुक्त भाव से

अश्लीलता की सीमाएँ तोड़कर अपना अभिनय कर सकें और पुरुष जाति के प्रति अपने मन की दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वच्छन्द होकर कर सकें। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह प्रदर्शन महिलाओं का उन्मुक्त हास-विलास है। 'डोमकच' के सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि इस लोकनाट्य में अभिनीत होने वाले स्वांगों का कोई लिखित रूप नहीं है। सारा विषय-विन्यास महिलाओं के कण्ठों में है, जो परम्परा से चला आ रहा है। इस संगीत-रूपक को अब आकाशवाणी पटना से प्रसारित भी किया जा चुका है।

जो भी हो भोजपुरी जनमानस में इस लोकनाट्य का प्रारम्भ सुरक्षा के दृष्टिकोण से हुआ है या नहीं, किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस स्वांग के प्रदर्शन में स्त्रियों द्वारा पुरुषों की नकल उतारने की तथा अपनी दमित भावनाओं को मुक्त रूप से व्यक्त करने की प्रवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। इस रूप में यह लोकनाट्य भोजपुरी क्षेत्र का एक मोहक लोकनाट्य है।

'बगुली' नाट्य-गीत

यों मुख्य रूप से 'बगुली' मगही भाषी क्षेत्र का गीतिनाट्य है, जिसके सम्बन्ध में डॉ० (श्रीमती) संपत्ति अर्याणी की ये पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं— 'बगुली' मगध का लोक-प्रचलित गीतिनाट्य है, शरद ऋतु के नीले गगन के नीचे खुले विस्तृत मैदान में स्त्रियाँ एकत्रित होकर इस लोकाभिनय में भाग लेती हैं। वस्तुतः आश्विन में गर्मी की तपन, वर्षा के अवरोध एवं जाड़े की ठिठुरन से मुक्त मानव स्वभावतः हर्ष, उत्साह एवं उल्लास से पूर्ण होता है, जिसकी अभिव्यक्ति इन नृत्य अथवा गीतिनाट्य वाले उत्सवों में होती है। इन खेलों के लिए खुला मैदान, सुहावना मौसम और सुखद वातावरण चाहिए। आश्विन में ये सभी सुयोग एकत्र मिल जाते हैं। इसलिए इस समय न केवल बगुली का खेल, प्रत्युत जट-जटिनी, सामा-चकेवा आदि के भी खेल होते हैं।⁵⁰

मगही भाषी क्षेत्र के अलावा भोजपुरी के उन क्षेत्रों में जहाँ मगही से सामीप्य सम्बन्ध है, आश्विन मास में स्त्रियों द्वारा यह नाट्य-गीत अभिनीत होता है। जसपुर स्टेट के आस-पास, पलामू और राँची जिलों के कुछ हिस्से तथा मुजफ्फरपुर के कुछ भागों में जहाँ भोजपुरी बोली जाती है, इस नाट्य-गीत का अभिनय होता है। गोरखपुर, आजमगढ़, बलिया तथा गाजीपुर में 'पिड़िया' व्रत के अन्तर्गत रात को जागरण के लिए इसी नाट्य-गीत को थोड़े अन्तर के साथ लड़कियाँ प्रस्तुत करती हैं। इसमें बगुली के साथ-साथ चूड़िहारिन और गोदनिहारिन का भी रूपक प्रस्तुत किया जाता है। इसके लिए भी न तो किसी प्रकार के मंच की आवश्यकता पड़ती है और न किसी प्रकार के

तैयारी की ही। इस लोकनाट्य की एक प्रधान विशेषता यह है कि इसके अभिनय में 'डोमकच' के समान विभिन्न प्रकार के स्वांग बनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

'बगुली' नाट्य में एक औरत बगुली की आकृति बनाती है। अपने घूँघट को नीचे तक लटका कर उसमें हाथ डालकर चोंच की सी आकृति बनाकर एक औरत दो तरफ बैठी हुई औरतों के बीच में उकड़ूँ होकर इधर-उधर फुदकते हुए चलती है। उसकी बनावटी चोंच हिलती रहती है। दोनों तरफ आठ से दस औरतें खड़ी होकर गीत गाती हैं, वातावरण को सरस बनाती हैं। फुदकते हुए बगुली एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर जाती है और 'दिदिया' नाम की दूसरी स्त्री-पात्र से उसका गीत में ही संवाद चलता है —

दिदिया— दुल चल बगुली दुल चल।
बगुली— केकरा दुवरिया दुल चलूँ।
दिदिया— सोनरवा दुअरियाँ दुल चल।
बगुली— सोनरवा के पूत मोहिं मरुवे।
दिदिया— कवना कसुरवे तोहिं मरुवे।
बगुली— सोनवाँ छुअत मोहिं मरुवे।
दिदिया— सोनरा के पूत के दाढी जारों,
काहें बगुलिया के मरुवे।

इसी प्रकार ब्राह्मण, जमींदार, अहीर, बजाज, हलवाई आदि कई जातियों के लड़कों द्वारा पीटे जाने की शिकायत 'बगुली'— 'दिदिया' से करती है। यह प्रसंग बहुत सरस संगीत में देर तक चलता रहता है। अन्त में दिदिया की आलोचना से रुष्ट होकर बगुली नदी की ओर चलती है। यहीं इस लोकनाट्य का प्रथम दृश्य समाप्त होता है।

नाटक का दूसरा दृश्य ससुराल से रूठकर नैहर की ओर प्रस्थान करती हुई बगुली के उन उत्तरों से प्रारम्भ होता है, जिन्हें वह अन्य स्त्रियों द्वारा पूछने पर देती हैं।

स्त्रियाँ— कहवाँ के रुसल कहवाँ जालू ये बगुली।
बगुली— ससुरा के रुसल नइहरवाँ जाली ये दिदिया।
स्त्रियाँ— कवने करनवाँ नइहरवाँ जालू ये बगुली।
बगुली— रोटिया बनाते लोइया खा लियो हे दिदिया।
तेहि कारन ससुई मोहिं मरुवे, ये दिदिया।
स्त्रियाँ— तूँ तऽ हऊ बड़ ललचहिया ये बगुली।

औरतें बगुली को चलने का ढंग बताती हुई कहती हैं –

अंग मोरि के चल ये बगुली। घूँघ तानि के चल ये बगुली।

इसी दृश्य में औरतें बगुली का मनावन करती हैं कि वह अपने ससुराल लौट जाय, क्योंकि उसके श्वसुर उसे लिवा जाने के लिए खड़े हैं। बगुली कहती है—

ससुरा के सँगवा हम ना जाइब ये दिदिया।

घूँघटा तानत जिअरा जाई रे दिदिया।

इसी प्रकार भसुर के साथ जाने में भी अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए बगुली कहती है –

भसुरा के सँगवाँ हम ना जाइब ये दिदिया।

खरवा बरावत जिअरा जाई रे दिदिया।

स्त्रियाँ कहती हैं कि उसका देवर उसे बुलाने के लिए आएगा, तब बगुली कहती हैं –

देवरू के संगवाँ हम ना जाइब ये दिदिया।

हँसत-बोलत जिअरा जइहें ये दिदिया।

अन्त में स्त्रियाँ कहती हैं कि अगर तुम्हारा स्वामी तुम्हें लिवाने के लिए आये तो –

अरे सइयाँ लिआवन तोहिं के अइहें ये बगुली।

सइयाँ का आगमन सुनकर बगुली प्रसन्न होकर कहती है –

अरे सइयाँ के संगवाँ हम जाइब ये दिदिया।

गोड़वा बथिहें कन्हवाँ लीहें ये दिदिया।

इस नाट्य-गीत का तीसरा दृश्य बगुली द्वारा नदी पार करने के लिए मल्लाह की प्रार्थना करते हुए प्रारम्भ होता है –

बगुली— हाली ले आवहु हाली ले आवहु महलवा रे भइया।

जल्दी से पार उतार हो मलहवा भइया।

मल्लाह— हमरा तूँ दे दऽ गोरी गला के हँसुलिया।

बगुली— उ ते हँसुलिया सासु जी के, दीह लऽ हो तूँ मलहवा भइया,
जल्दी से उतार हो मलहवा भइया ।

मल्लाह— हमरा तूँ दे दऽ गोरी हाथ के कंगनवाँ ।

बगुली— ओहू कंगनवाँ भसुर जी के दीहल, सच मान तूँ हे महलवा भइया,
जल्दी से पार उतार हो मलहवा भइया ।

इसी प्रकार कई आभूषणों की माँग के बाद अन्त में धृष्ट मल्लाह उसका अदेय यौवन माँगता है, जिसे देने से वह इनकार कर देती है और यहीं से नाटक का अन्त हो जाता है —

मल्लाह— हमरा तूँ दे अऽ गोरी सँचली जवनियाँ ।

बगुली— ऊ ते जवनियाँ पियवा के देवल हवे ।
कइसे के तोहें देई हो महलवा भइया ।
जल्दी से पार उतार हो मलहवा भइया ।

इस गीत—नाट्य के प्रारम्भ में करुण रस की प्रधानता है, जब बगुली विभिन्न जाति के लड़कों द्वारा मारे जाने की उलाहना दिदिया नामक स्त्री से करती है, मध्य में श्रृंगार और हास्य का मिला—जुला रूप है और नाटक का अन्तिम अंश दर्शक के ऊपर भारतीय नारी के गौरवपूर्ण चरित्र की अमिट छाप छोड़ता है। भोजपुरी क्षेत्र के महिलाओं द्वारा अभिनीत लोकानुरंजन का यह सशक्त माध्यम सचमुच में अपने अन्दर विराट आदर्श छिपाये हुए है।

जट—जटिन

यह परम्पराशील नाट्य मुख्यतः भागलपुर, मुंगेर तथा उत्तर बिहार (मिथिला क्षेत्र) में अधिक प्रचलित है। भोजपुरी क्षेत्रों में यह लोकनाट्य उन्हीं अंचलों में प्रस्तुत होता है, जो उत्तर बिहार के संस्कारों से प्रभावित हैं, इसीलिए मिथिला के समीपवर्ती भोजपुरी भाषी जिला चम्पारन में महिलाओं द्वारा इस लोकनाट्य का अभिनय होता है। डॉ० महेश कुमार सिन्हा ने तो उसे शाहाबाद जिले में अभिनीत होते देखा है। उनका कहना है— 'जट—जटिन का अभिनय शाहाबाद में बक्सर के पास एक—दो गाँवों में मैंने परिवर्तित रूप में प्रदर्शित होते हुए देखा है।'⁵¹

डॉ० श्याम परमार का कथन है कि— 'मिथिला, उत्तर बिहार और भोजपुर के

अनेक ग्रामों में गीतों से भरा यह लघु प्रहसन बहुत प्रचलित है।⁵² डॉ० महेन्द्र भानावत ने भी इसे मिथिला और भोजपुरी दोनों क्षेत्रों की महिलाओं का बहु-प्रचलित लोकनाट्य माना है।⁵³

श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने इस संगीत रूपक का परिचय देते हुए लिखा है— 'जट जटिन' लोकगीत और आंचलिक नाट्य के बीच की अवस्था का नमूना है। अंग्रेजी के 'फोकप्ले' की संज्ञा 'जट-जटिन' को दी जा सकती है, अर्थात् यह ऐसा प्रदर्शन है, जिसमें बिना किसी विशेष तैयारी के ग्रामीण समाज अपने जीवन और अनुभूतियों के विषय में एक सामुदायिक उत्सव के रूप में रंग प्रदर्शन करता है। इसके काव्य में ऐसी ताजगी और अकृत्रिम बिम्ब योजना है, जो अन्य परम्पराशील आंचलिक नाट्यों में लगभग अप्राप्य है। 'जट-जटिन' पूर्णतया स्त्री समाज का मनोरंजन है। स्त्रियाँ ही वेश धरती हैं, गान और नृत्य करती हैं और प्रेक्षक भी स्त्रियाँ ही होती हैं। पुरुष इस नाट्य को नहीं देख सकते। अतः इसमें दाम्पत्य जीवन का वह मार्मिक पक्ष उभरता है, जो न पौराणिक कथाओं में है और न परम्परागत प्रेमाख्यानों में।⁵⁴

'जट-जटिन' के आयोजन का उद्देश्य प्रधानतः वर्षा के निमित्त होता है। सावन-भादों के शुक्ल पक्ष की रात इसके लिए उपयुक्त मानी जाती है। इसके अभिनय के समय स्त्री समाज जट और जटिन के दो वर्गों में विभक्त हो जाता है तथा एक स्त्री पुरुष वेश का अभिनय करती है। जट का अभिनय करने वाली स्त्री माथे पर साफा या पगड़ी बाँधती है। तन पर एक गंजी (बनियाइन) पहने रहती है। शेष स्त्रियाँ जरूरत के अनुसार वस्त्र परिवर्तन करती हैं।

'जट-जटिन' में बंका और मकुली के विवाह के नाम में जट और जटिनी का प्रणय सम्बन्ध होता है। मँगनी, विवाह, गौना, नव-दम्पति तथा वियोग इसके कथानक के मुख्य प्रसंग हैं। पति-पत्नी, माता-पिता, सास-श्वसुर, सखी, भाई-भौजाई, ननद आदि पात्रों की अवतारणा ने जट-जटिन को एक सुन्दरतम पारिवारिक धरातल प्रदान किया है। इस संगीत रूपक में अभिनीत होने वाले दाम्पत्य जीवन के मार्मिक और मधुर प्रसंग सहज ही हृदय को छूने वाले होते हैं। श्री जगदीश चन्द्र माथुर के कथनानुसार जट-जटिन की प्रस्तावना में सहगान एवं नृत्य सहित संवाद गीतों द्वारा उत्सव के उल्लास के लिये उद्दीपन जुटाया जाता है, उत्सव की लालसा और मृत्यु के भय के शाश्वत संयोग का मार्मिक उल्लेख होता है, दाम्पत्य और कौटुम्बिक जीवन के प्रमुख पात्र-पात्राओं का हल्का सा परिचय होता है तथा उत्सव में भाग लेने के लिए सहेलियों को उलाहनापूर्ण आमंत्रण दिया जाता है।⁵⁵

यह एक ऐसा अभिनय है, जिसमें कभी-कभी मूक अभिनय भी देखने को मिलता है। बिना गद्य के गीत ही गीत में यह लोकनाट्य पाँच अंकों तक फैलता जाता है। अंकों का विभाजन कथानक के मोड़ों के कारण सम्भव होता है। अभिनय के समय स्त्रियाँ आमने-सामने एक विशेष मुद्रा में खड़ी होकर एक दूसरे को गीतों के माध्यम से ही संवाद करती हैं। इस प्रकार गीतों में ही उत्तर-प्रत्युत्तर चलता रहता है।

‘डोमकच’ स्वांग के ही समान यह प्रहसन भी महिला पात्री नाट्य है। स्त्रियाँ ही इसमें स्वांग धारण करती हैं, गायन भी महिलाएँ ही करती हैं और नृत्य अदायगी भी महिलाएँ ही करती हैं। महिला प्रदर्शकों के साथ-साथ दर्शक भी इसमें महिलाएँ ही होती हैं। यह एक ऐसा लोकनाट्य है, जिसमें किसी वाद्य यंत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती है। बागीचा, मैदान या खुला लम्बा-चौड़ा आँगन इस अभिनय की रंगस्थली होती है।

इस संगीत-नाट्य के प्रारम्भ में प्रस्तावना के रूप में सहगान होते हैं, जो आगे प्रस्तुत किये जाने वाले नाट्य का मूड बनाने के लिए उद्दीपन का काम करते हैं। एक सहगान का उदाहरण इस प्रकार है —

कजरी खेले गइलीं हे तूत के गली,
 झुमका हेरेइले हे अमरूद की गली,
 सासु करें मार-मार ननद करें चुगली,
 सैयाँ जालिम जोर करे मारे अँगुली,
 कजरी खेले गइलीं हे तूत के गली।

इसकी मूल कथा जट-जटिन की माताओं के पारस्परिक संवाद से शुरू होती है। जाट की माता जटिन की माता से अपने पुत्र के विवाह का प्रस्ताव करती है। जटिन की माँ उसकी हर दलील को पलटते हुए इनकार कर देती है। जट की माँ जटिन की माँ को धमकी देती है, धमकी नहीं चलती है, तो जट की माँ प्रलोभन दिखाती है और कहती है कि तुम्हारी लड़की के लिए साया, साड़ी, सेनुर, टिकुली, हँसुली, सिकरी, लाऊँगी, परन्तु जटिन की माँ इन प्रलोभनों का भी उत्तर देती है। इस प्रश्नोत्तर में अत्यन्त नाटकीयता झलकती है। किसी प्रकार जट से जटिन की माँ जटिन का विवाह करने को प्रस्तुत होती है।

नाटक का दूसरा दृश्य विवाह प्रसंग से शुरू होता है। इस विवाह प्रसंग में एक रोचक प्रसंग है मुख्य पात्र-पात्री (जट-जटिन) के विवाह की नकल ‘बंका-मकुली’ का

विवाह। इस प्रसंग के अलावा रोहित दास तथा लुखवा की मौत के छोटे-छोटे लघु प्रहसन हैं।

विवाहोपरान्त जट-जटिन के द्विरागमन हेतु जोर देता है -

नउआ पठइबे रे जटिनियाँ नउआ पठइबे रे।
एहि बेरि जे फगुनवाँ हम त गौना करइबे रे।।

जटिन जवाब देती है -

नउआ फेरबों रे जटा, नउआ फेरबों रे।
एहि बेरि फगुनवाँ हम ते नइहर रहबों रे।

इसी प्रकार वह ब्राह्मण को भी लौटाने की बात करती है। जाने की बात जब आती भी है तो वह पंडित, नाऊ, भसुर, ननदोई किसी के साथ जाने के लिए तैयार नहीं होती है, क्योंकि ब्राह्मण देवता तो रास्ते में पोथी उचारते चलेंगे और ननदोई करखी नजर से देखते चलेंगे -

बभना संग हम ना जइबो रे जटा।
बाटे-बाटे पोथिया उचरहिं हो जटा।।
ननदोइया के संग हम नहिं जइबे रे जटा।
उते बाटे-बाटे कनखी चलइहें जटा।।

अन्त में जब जट स्वयं लिवा जाने की बात करता है तो जटिन हर्षातिरेक से प्रस्तुत हो जाती है-

तोरा संगे हम जइबो रे जटा।
जटा तूँ ते बाटे-बाटे पनवों खिलइबे रे जटा।
तूँते बाटे घटे गोड़वा दबइबे रे जटा।
तूँ ते राहे बाटे बेनियाँ डोलइबे रे जटा।।

गीतिनाट्य का तीसरा दृश्य नव-दम्पति प्रसंग का है। जटिन में मुग्धा का सहज गुण है, किन्तु चंचलता, स्वच्छन्दता के साथ वह अपने प्रियतम के साथ ससुराल जाने को तत्पर होती है। ससुराल में आकर जटिन के कर्तव्य युक्ति, कार्य तथा विचार में पूर्ण परिवर्तन हो जाता है और वह सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवहार को शारीरिक सुख से अधिक महत्त्व देती है। भोर के समय आँचल में सोये हुए अलसाये जट को जगाते हुए वह कहती है -

भोर भइल के जटा, भिनुसरवा भइल रे जटवा, कोइलिया बोले रे।
जटवा छोड़ि देहि अँचरवा, हम त अँगना बुहारब रे।

जट जवाब देता है —

मइया बहरिहें रे जटिनियाँ, बहिनियाँ बहरिहें रे।
जटिनि आजु क रतिया हम तें पलंग पर गमइबे रे।।

इसी आनन्द और उछाह के दाम्पत्य जीवन में उपालंभ भी आता है —

हम तोंसे पूछहिं हे जटिनियाँ, झूमका कहवाँ हेरइलें रे।

इसी क्रम में पारिवारिक कलह का मार्मिक चित्रण है। आगे बहू के प्रति सास का तथा भाभी के प्रति ननद के स्वाभाविक ईर्ष्या-द्वेष को भी दिखलाया गया है। नैहर के वातावरण से आई नव-वधू को अपने ससुराल में वधू सुलभ व्यवहार सिखलाया जाता है—

जट— नवि के चलि रे जटिनियाँ नवि के चलि रे,
जइसे नवे काँच काइनियाँ वइसे नवि के चलि रे।

जटिन का उत्तर है —

नहियें नवबो रे जटा, नहियें नवबो रे जटा।
हम तो बाबा के दुलारी धीया, तनि के चलबो रे।।

स्त्रियों का आभूषण के प्रति उत्कट मोह होता है। वह कहती है —

जटा रे जटिन के मँगिया है खाली।
मँगटिका तूँ कहिया ले अइबे रे।।

जट मजाक करते हुए कहता है —

जटिन रे सोनरा छोंवड़वा तोहार यार।
मँगटिकवा त पेन्हाउ देतेउ रे।।

वियोग प्रसंग

जट-जटिन का अन्तिम प्रसंग अत्यन्त हृदयग्राही है। जट अपनी जटिन की फरमाइश पूरी करने के लिये पूरब देश नौकरी करने जाना चाहता है। जटिन आभूषणों

की फरमाइश छोड़ देती है और कहती है कि मुझे हँसुली नहीं चाहिए, तुम यहीं रहो, पूरब की हवा खराब है—

हँसुली जे लाये जटा, गरवा के फाँस।
नाहीं कर जटा पूरबे के आस।।
पूरबे के पनियाँ कुपनियाँ हे रे जटा।
लगी जातें कोढ़ के करेज का
रहि जाहु रे जटा नैनों के हजूर।

आखिर जट विदेश चला ही जाता है। जटिन उसके वियोग में तड़पती है। उसे खोजने निकलती है। रास्ते में सुनार उसे तरह—तरह के लालच दिखाता है। उसके उत्तर में जटिन उसको फटकारती है तथा अपने जट की सुकुमारता का वर्णन करती है। जटिन जट को खोजते—खोजते झिंगनापुर घाट पहुँचती है और नदी पार कराने के लिए मल्लाह से निवेदन करती है —

भइया मलहवा रे, उतार देहु झिंगनापुर के घाट।
थाली देबों एवा—खेवा, लोटा देबों इनाम,
भइया मलहवा रे, उतार देहु झिंगनापुर के घाट।

जटिन और मल्लाह का वार्तालाप बड़ी देर तक रोचक ढंग से होता है। जट अंततः लौट आता है, पर किसी बात पर जटिन रूठकर चली जाती है। विरह त्रस्त जट विविध वेश धारण कर जटिन की खोज शुरू करता है। विरहत्रस्त जट दही बेचने वाली ग्वालिन के रूप में, मछली बेचने वाली के रूप में, चूड़िहारिन के रूप में जटिन का स्वांग करता है।

नाटक के अन्त में जट—जटिन को मनाकर घर ले जाता है और मंगल भावना के साथ यह खेल समाप्त होता है।

‘जट—जटिन’ के अभिनय के उपरान्त स्त्रियों द्वारा हल जोतने की परिपाटी है। चूँकि इस गीतनाट्य का अभिनय वर्षा ऋतु में काफी दिनों तक वर्षा न होने पर निरभ्र आकाश में छिटकती ज्योत्सना का साहचर्य पाकर देवेश इन्द्र की आराधना हेतु किया जाता है, इसलिए इस नाट्य का एक आनुष्ठानिक महत्त्व है। लोकविश्वास को दृष्टि में रखकर स्त्रियाँ इस अभिनय के समापन के साथ मँढक कूटकर किसी मिट्टी के पात्र

में रखकर उस घर में फेंकती हैं, जो व्यक्ति गाली देने में विख्यात होता है। इस क्रिया के साथ इस अभिनय का समापन होता है।

श्यामा—चकेवा

बिहार का प्रसिद्ध पर्व 'छठ' की समाप्ति के बाद शरद ऋतु के अन्त में कार्तिक महीने के शुक्ल पक्ष में 'श्यामा—चकेवा' का खेल प्रधानतः कुमारी कन्याओं या नव—विवाहित स्त्रियों द्वारा बड़े उत्साहपूर्ण ढंग से किया जाता है। 'जट—जटिन' नाट्य के ही समान यह पूरा खेल गीतों में है। प्रधानतः यह क्रीड़ा गीत मिथिला क्षेत्र में ही प्रचलित है, किन्तु मिथिला क्षेत्र से सांस्कृतिक दृष्टि से प्रभावित होने के कारण भोजपुरी भाषी मोतीहारी जिले में भी इस अभिनय का प्रचार है। मोतीहारी के कुछ खास—खास गाँवों और नगरों में ही यह खेल खेला जाता है। एक ही जिले के कुछ गाँवों में तो यह खेल प्रचलित है और कुछ गाँवों में इसका लोग नाम तक नहीं जानते हैं। सूचना विभाग, लखनऊ से प्रकाशित 'उत्तर प्रदेश के लोकगीत' नामक पुस्तक में डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने मंझरिया (जिला चम्पारण) से प्राप्त श्यामा—चकेवा के तेरह गीतों को संग्रहीत किया है। मिथिला क्षेत्र के कुछ भागों में तो इस खेल का इतना प्रचार है कि प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने आँचलिक उपन्यास 'परती परिकथा' में पृष्ठ 187 से लेकर पृष्ठ 200 तक लड़कियों द्वारा श्यामा—चकेवा खेल—खेलने का वर्णन किया है। रेणु जी इस पर्व के महत्त्व को व्यक्त करते हुए एक स्थान पर एक पात्र से कहलाये हैं— 'कौन कहता है, गँवई पर्व है। लीला बोली— मैंने 'दैनिक आर्यभूमि' और 'इण्डियन नेशनल टाइम्स' में लेख पढ़ा है, इस पर्व पर, समझी मलारी।' मलारी ने कहा— और मैंने भी पढ़ा है। 'पारिजात की पुरानी कापी उलट रही थी। देखा श्यामा—चकेवा पर भी लेख है।' ⁵⁶

'श्यामा—चकेवा' की कथा का सम्बन्ध 'पद्म—पुराण' की एक कथा से जोड़ा जाता है, जहाँ बताया गया है कि श्यामा कृष्ण की कन्या थी तथा साम्बर की बहिन। श्यामा रात्रि में चुपचाप चारुवाक्य मुनि के पास जाती थी। एक रात चुगला नामक एक व्यक्ति उनको जाते देखकर श्रीकृष्ण से कह दिया। कृष्ण श्यामा को शाप दे दिये कि तुम पृथ्वी पर चकवी पक्षी के रूप में रहोगी। श्यामा के वियोग में चारुवाक्य बड़ा दुखी हो उठा तथा महादेवी की आराधना कर उनसे चकवा होने का वरदान प्राप्त किया। चकवा—चकवी के साथ वृन्दावन में रहने लगा। सामा के भाई साम्बक को अपने बहिन—बहनोई की दशा पर बड़ी व्यथा हुई, अतएव वह विष्णु पूजा कराकर विष्णु से वरदान में अपने बहिन—बहनोई के पूर्व शरीर की प्राप्ति हेतु याचना किया। विष्णु जी ने कार्तिक मास की

पंचमी तिथि को सामा, चुगला, सप्तर्षि तथा वृन्दावन की मूर्ति बना करके पूर्णिमा तिथि को विधिपूर्वक पूजा करके विसर्जन करने का आदेश दिया, फलस्वरूप श्यामा और चकेवा अपने पूर्व कलेवर को प्राप्त किये।

इस गीति-नाट्य में श्यामा बहन का और चकेवा भाई का प्रतीक है। मोतीहारी जनपद के कुछ भागों में अभिनीत होने वाले इस गीति-नाट्य में भाई के प्रतीक के रूप में चकवा, बहन के प्रतीक के रूप में खिड़रिच, भउजी के प्रतीक के रूप में श्यामा और बहिनोई के प्रतीक के रूप में चुगला होता है। श्यामा और चकेवा के अतिरिक्त इसमें छः पूरक पात्र भी हैं, जो कथा गीत को और आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे हैं— चुगला, सतभइया, खिड़रिच, बनतीतर, झोंझी कुत्ता और वन्दावन। इस गीति-नाट्य में आये सभी पात्र एक विशेष व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। लड़कियाँ इन पक्षियों की प्रतिकृति बनाती हैं। इनके साथ ही वृन्दावन और पहाड़ भी बनाये जाते हैं। कार्तिक में गोधन के दिन बाँस के बने डाले में इन सभी मूर्तियों को रखकर किसी कुएँ, मैदान या नदी किनारे जाती हैं। चूँकि चुगला भाई-बहिन के पावन प्रेम में कुठाराघात करता है, इसलिए उसकी मिट्टी की मूर्ति बेवकूफ जैसी बनाई जाती है। इसी मिट्टी की बनी मूर्ति के कमर में छेद करके पाट का सूत लड़कियाँ लगा देती हैं। इसी सूत को श्यामा-चकेवा का अभिनय करने वाली लड़कियाँ जलाती हैं।

श्यामा-चकेवा के अभिनय में दो प्रकार के गीतों का समावेश है— झूमर, श्यामा-चकेवा का गीत। श्यामा-चकेवा के खेल का तात्पर्य है बहिन द्वारा भाई के अभ्युदय की कामना। भाई तथा बहिन के विशुद्ध प्रेम में बाधक चुगला अपनी कलुषित मनोवृत्ति के कारण कुठाराघात करता है। अभिनय के प्रारम्भ में निम्नलिखित गीत होता है —

*किनका अँगना चनन केर गछिया, किनका अँगना अनार,
किनका अँगना घूघुर के गछिया, आवे चुगला जतिया विटार,
बाबा अँगना चनन के गछिया, भइया अँगना अनार,
चुगला अँगना घूघुर के गछिया, आवे चुगला जतिया विटार।*

सिर पर डाले में दीपक की चहचहाती लौ में विभिन्न प्रतिमूर्तियों को रखे हुए युवतियाँ इस गीत के साथ श्यामा को चराने के लिए चलती हैं —

*ओहि पार चकवा भइया खेलेलें शिकार,
एहि पार खिड़रिच बहिनी, ओरहनवाँ लिहले ठाढ।*

तोहँसे ओरहनवाँ रे बहिनी पटुकवाँ होबे हो पसार।
बाबा के सम्पत्तियाँ रे बहिनी आधा देबे बाँटि।
हम परदेशी बहिनियाँ, मोटरिया के हो आस।
आवे दे अगहन मसवा कटइबो बेलउर धान।
चिउरा कसरवा दे बहिनी रखवें तोरो मान।
भार लिहले भरइत भइया डोली लिहलें कँहार।
छाता लिहले चकवा भइया, बहिनियाँ बोलवले जायँ।

डीभी चराते समय यह गीत गाया जाता है —

डीभी चरू डीभी चरू चकउआ भइया रे,
भइया इहो डिभिया बोवले कवन भइया।
डीभिया लहसि जामे डीभिया लफरि जामे।

इसी प्रकार श्यामा, खिंड़रिच और चुगला के नाम ले-लेकर बड़े स्वाभाविक ढंग से डीभी चराने का तथा पानी पिलाने का अभिनय होता है। पानी पिलाते समय भी गीत चलता रहता है —

पानी पीउ पानी पीउ पानी पीउ चकउवा भइया,
भइया इहो पोखरा खने ले कवन भइया।
पनियाँ हिलोर मारे, पनियाँ कलोर मारे।

इसी प्रकार सबके नाम की पुनरावृत्ति होती है। निम्नलिखित गीत में भाई के प्रति बहिन का अनुराग तथा चुगला के प्रति तिरस्कार का चित्रण है —

धान धान तऽ भइया कोठी धान, चुगला कोठी भूस्सा।
आरे वृन्दावन जारे वृन्दावन, भइया मुख पान चुगला मुख कोइला।
मटर-मटर-मटर तऽ भइया कोठी मटर, चुगला कोठी फटर।
आरे वृन्दावन जारे वृन्दावन जारे वृन्दावन, भइया मुख पान चुगला मुख कोइला।

इसी प्रकार कई अनाजों का नाम लेकर गीत चलता रहता है। सबके नामों को गुहराने के बाद श्यामा-चकेवा का अभिनय करने वाली लड़कियाँ चुगला की दाढ़ी में आग लगा देती हैं। जलते समय मधुर ध्वनि में यह गीत गाती हैं—

चुगला करे चुगली, बिलइया करे म्याउँ,
धऽ ला चुगली के फाँसी देउ।

जहाँ हमार बाबा बसे, तहाँ चुगला चुगली करे।
जहाँ हमार भइया बसे, तहाँ चुगला चुगली करे।।

X X X X

चुगला के दाढ़ी रे केहू ना बुतावे रे,
हमरा चकउवा भइया केतना बुतावे रे,
बन वृन्दावन आगि लागल कोई ना बुतावे रे,
हमरा चकउवा भइया केतना बुतावे रे।

आग बुझाने के बाद डाले में रखी हुई चकवा, श्यामा, खिड़रिच, चुगला, बनतीतर, झाँझी कुत्ता, वृन्दावन की माटी की मूर्तियों को लड़कियाँ नदी या पोखरे में विसर्जित कर देती हैं। विसर्जन के समय का अन्तिम गीत इस प्रकार है —

सामा हे चकवा हे, उड़ि खेत में रहिहऽ हे,
ढेंपा फोरि—फोरि खइहऽ हे, ओस पी—पी रहिहऽ हे,
हमरा भाई के आसिस दीहऽ हे, अगिला साल फेरि अइहऽ हे।

श्यामा—चकेवा के विदाई गीत के साथ इस गीतिनाट्य का सरस एवं भावपूर्ण अवस्था में अन्त होता है। 'श्यामा—चकेवा' के इन गीतों में जहाँ एक ओर शरद की चहचहाती प्रकृति का उन्मादकारी संयोग है, वहीं दूसरी ओर भाई—बहन के निश्छल प्रेम का अनूठा चित्रण भी है।

इस गीति—नाट्य में वाद्य यंत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रदर्शन हेतु कोई विशेष रंगस्थली नहीं होती। गाँव के बाहर का खेत, मैदान, बगीचा, नदी किनारा ही इसकी रंगस्थली बन जाती है। अभिनय के लिए कोई अलग से प्रसंग उभरकर नहीं आता है, अपितु लड़कियों के गीतों के गायन की भगिमा एवं शारीरिक चेष्टायें अभिनय का रूप ले लेती हैं। डाले में रखे हुए विभिन्न पक्षियों की प्रतिमूर्तियाँ एवं कलात्मक ढंग से गीत गाने वाली लड़कियाँ इसके पात्र हो जाती हैं। इस नाट्यगीत में 'जट—जटिन' की तरह व्यवस्थित रूप से गीत अभिनय नहीं होते, पर इसे नाट्य—गीत में इसलिए रखा जा सकता है कि इसमें गाने वाली महिलाओं के दो दल होते हैं और दोनों दल नाटकीयता के साथ भाव प्रकाशन करते हैं।

‘सामा—चकेवा’ के खेल में कुछ अनुष्ठान भी रहते हैं, इसलिए कह सकते हैं कि इसकी कथा और प्रदर्शन पद्धति में धार्मिक अनुष्ठान जैसा प्रयत्न है और भाई—बहन के सम्बन्धों की मार्मिक व्याख्या। इस प्रकार यह लोकनाट्य गीत, कथा, खेल, अनुष्ठान एवं अभिनय का समन्वित रूप है।

सुगना

पश्चिमी चम्पारन के बगहा क्षेत्र में स्त्रियों द्वारा ‘झिंझिया’ नृत्य के साथ सुगना का नृत्य रूपक भी चलता है।⁶⁷ इसका प्रदर्शन नवरात्र से प्रारम्भ होकर दशहरा के दिन समाप्त होता है। यद्यपि इस नृत्य रूपक का आयोजन मात्र मनोरंजन के लिए होता है, परन्तु इसका परम्परागत एवं आनुष्ठानिक महत्त्व भी है।

इसके प्रदर्शन में रूप—सज्जा एवं नाटकीय मोड़ जैसी किसी चीज की अपेक्षा नहीं होती है। स्त्रियों द्वारा नवरात्र के प्रथम दिन आँगन के एक भाग में मिट्टी का पहाड़ बनाया जाता है। उस पर जौ बो दिया जाता है। लड़कियाँ प्रतिदिन प्रातः स्नान करने के बाद उसी मिट्टी के पहाड़ पर पानी गिराती हैं और रात को वहाँ घी का दीपक जलाती हैं। इसके साथ ही घड़े में छेद करके उस पर मोहक कलाकारिता के साथ सुग्गा इत्यादि पक्षियों के चित्र बनाती हैं। नवरात्र के रातों में एक औरत उस छिद्र वाले घड़े को जिसमें दीपक जलता रहता है तथा तमाम प्रकार की चित्रकारी की गई रहती है, अपने सिर पर रखकर अत्यन्त नाटकीय ढंग से मूक होकर नृत्य करती है। उसके नृत्य की अदायगी के साथ सिर पर रखे घड़े के झिलमिल प्रकाश में सुगना इत्यादि पक्षियों के बिम्ब पृथ्वी पर बिम्बित होते रहते हैं, जो बड़े मनोहारी लगते हैं। साथ की स्त्रियाँ गीत गाती रहती हैं तथा मन्द घोष में ढोलक बजाती रहती हैं। इस प्रदर्शन को औरतें दरवाजे—दरवाजे घूम—घूमकर दिखाती हैं। इसके प्रदर्शन में धार्मिक विश्वास की प्रवृत्ति भी काम करती है। लोकविश्वास है कि अगर किसी के सुगना के दीपक की बत्ती मिल जाती है तो वह व्यक्ति अवश्य जीतता है।

झिंझिया तोड़ते समय लड़कियाँ बड़े कोमल स्वर में यह गीत गाती चलती है —

जिन मोरे झिंझिया फोरि देना सुगना।

वास्तव में लड़कियों के सरस गीत और कोमल नृत्य इस पूरे प्रदर्शन को आद्यन्त सुसूचिकर बनाये रखते हैं।

निःसंदेह यह गीत—नृत्य प्रधान नाट्य है। इसकी कथावस्तु श्रृंखलाबद्ध नहीं होती, प्रदर्शन के दौरान विशेष नाटकीय मोड़ नहीं प्रस्तुत होते, इसलिए यह नहीं कह सकते

कि इसका प्रदर्शन रोचकता लिये नहीं होता। शरद के शुक्ल पक्ष की मनोहारी रात में युवती स्त्रियों के झुण्ड के बीच जब एक किशोरी आकर्षक एवं नाटकीय ढंग से सिर पर रखे घड़े के झिलमिल प्रकाश छिद्रों में सुगना आदि पक्षियों का चित्र धरती पर बिम्बित होने लगता है तो उस नैसर्गिक सौन्दर्य का भरपूर रसास्वादन कोई प्रत्यक्ष द्रष्टा ही कर सकता है। इस प्रस्तुतीकरण में लोकजीवन के अनुरंजन पक्ष का बड़ा ही मोहक स्वरूप छिपा हुआ है। इसीलिए कथावस्तु के अभाव में भी गीतात्मक संवादों के न रहते हुए भी लोकनाट्य की यह नाटकीय शैली अपनी कलाकारिता एवं प्रदर्शन क्षमता के कारण स्त्रियों द्वारा अभिनीत होने वाले लोकनाट्य की परिधि में आ ही जाता है।

हर-परौरी

जिस प्रकार उत्तर बिहार के मिथिला क्षेत्र में पावस में काफी दिनों तक वर्षा न होने पर स्त्रियों द्वारा बेंग (मेंढक) कूटकर हँडिया में रखकर किसी व्यक्ति के आँगन में या सिरहाने फेंक दिया जाता है और इसी अवसर पर 'जट-जटिन' गीतिनाट्य का अभिनय होता है, उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, बलिया, गाजीपुर, बनारस आदि भोजपुरी भाषी जनपदों में वर्षा काल में अकाल पड़ने पर स्त्रियों द्वारा 'हर-परौरी' का आयोजन होता है। सम्भवतः लोकजीवन में इस अनुष्ठान को 'हर-परौरी' नाम वर्षा हेतु इन्द्र और शंकर की आराधना करने के कारण दिया गया है।

इस अनुष्ठान में स्त्रियाँ गाँव की सीमा के बाहर निर्जन मैदान में एकत्र होती हैं। एक स्त्री नग्न होकर अपने साड़ी का सिर पर पगड़ी बनाकर किसान का अभिनय करती है। दो स्त्रियाँ नग्न होकर अगल-बगल झुककर चलते हुए बैल का स्वांग करती हैं। दोनों स्त्रियों को जुआठ में जोत दिया जाता है। नग्न होकर किसान का अभिनय करने वाली स्त्री सचमुच का हल लेकर जोतने का अभिनय करती है और गाँव के किसी बड़े आदमी, मुखिया या प्रधान का नाम लेकर बड़े जोरों से चिल्लाती हुई पानी की माँग करती है। कभी-कभी वह उस आदमी का नाम लेकर चिल्लाते हुए गाली भी देती है कि हमलोग प्यासी मर रही हैं और वह पानी नहीं दे रहा है। गाली सुनकर वह आदमी घड़े में पानी लेकर उस स्थान पर जाता है, जहाँ औरते हल जोतने का अभिनय करती रहती हैं। वह आदमी पीछे की ओर देखते हुए जाता है और पानी रखकर तुरन्त तेजी से लौट आता है।

हल जोतने के स्वांग की इस सम्पूर्ण क्रिया के साथ गीतों का ताँता लगा रहता है। स्वांग के प्रारम्भ में औरतों का एक वर्ग काली, डीह और सातों बहिनों की स्तुति करती रहती है—

साठी धनवाँ के चिउरा कुटवलों, सुरही गइया के घीव।
हाली हाली जेंवना तूँ जेंव ये काली मइया, बादर लागे गंभीर।
मूसर अइसन धार गिरत है, ओखर अइसन बुन्न,
हाली हाली जेंवना तूँ जेंव ये सातों बहिना, बादल लागे गंभीर।

इसके बाद वर्षा के अभाव में जन-जीवन के दयनीय स्थिति का परिचय देती हुई महिलायें वरुण देव का आह्वान करती हैं –

बरखू हो बरखू बँसवा के खूँटिया लुकइलऽ हो बरखू।
साठी धनवाँ बोअवली, पनियाँ के डरले अकाल।
कोदवा के पुअरा में तोहार मुँह झँउसो, पनिया के डरले अकाल।
अँइठल गोंइठल मेंड पर बइठल, चुम्मा लेत चिचिआइ।
तुहरे बिना बारी न बिअहल जइहें, विअहल गवन नहिं जाय।

इसके बाद औरतें समूह में बैठकर गाँव के विशिष्ट व्यक्तियों का नाम ले-लेकर गीत गाती हैं –

सँपवा ते छोड़े सँपिनियाँ, तऽ मेघवा से पानी माँगे।
कवन राम छोड़ेले अपनीहो मेहरिया, पानी रे बिनु।
मोहन रामा छोड़े लें आपन मेहरिया पानी रे बिनु।
रोअलें हारि के दादा हो दादा, माई के जनि छोड़ हो
दादा अन्ने बिना, अन्ने बिना नाहीं ये बेटा पानी बिनु
सँपवा ते छोड़ेले सँपिनियाँ तऽ मेघवा से पानी माँगे।

वर्षा के अभाव में अकाल होने का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करती हुई महिलाएँ बड़े ही करुण ढंग से निम्नलिखित गीत गाती हैं –

हमरा के खत्त-खुत्ती, छापर छूपर पनियाँ,
ओही में नहाये ला फलनवा^{६८} बभनवाँ।
धोतियों न भीजै हो, जनेउवो न माँजे लें,
दयो न लागे रे हो इनर लोक, देवा पानी रे बिनु ना।
पानी रे बिनु पड़लें अकाल देवा पानी रे बिनु ना।
चर सुखलें चाँचर, सूखि गइल सारों संसार,
पानी बिनु पड़ले अकाल देवा पानी रे बिनु ना।
राँड़ी बभिनियाँ हर जोतेले, बीआ बोअेले,
दयो न लागे हो इनर लोक देवा, देवा पानी रे बिनु ना।

इस गीत में स्त्री द्वारा हर जोतने तथा ब्राह्मण द्वारा दैनिक कर्म की अवहेलना का सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुआ है।

‘हर-परौरी’ का आयोजन करने की परम्परा केवल भोजपुरी क्षेत्र में ही नहीं, लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित है। सर जेम्स जार्ज फ्रेजर महोदय ने ‘दि गोल्डेन बाउ’ नामक अपने ग्रन्थ में अनावृष्टि होने पर नग्न स्त्री द्वारा हल जोतने तथा बेंग (मेंढक) कूटकर अपने पड़ोसी के घर में फेंकने की एक प्रचलित प्रथा का उल्लेख किया है।⁵⁹ विलियम क्रूक महोदय ने भी इस प्रथा की चर्चा की है।⁶⁰

क्या ‘हर-परौरी’ भोजपुरी लोकनाट्य का एक रूप है, यह प्रश्न सम्भवतः बहुतों के मस्तिष्क में उठ सकता है। लोकनाट्य की सीमा का विवेचन करते हुए यह पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है कि हर लोकनाट्य में नाटक के सभी तत्त्व कथावस्तु, पात्र, संवाद, अभिनय, संगीत, वाद्य आदि का मिल पाना कठिन है। किसी में किसी तत्त्व की प्रधानता होती है तो किसी में किसी की। इस आधार पर ‘हर-परौरी’ की परख करने पर कथावस्तु के नाम पर वहाँ कुछ भी हाथ में नहीं आयेगा, किन्तु औरतों द्वारा नग्न होकर हल जोतने का जो स्वांग किया जाता है, जिस ढंग से समवेत स्वरों में भोजपुरी लोकछन्दों की विभिन्न राग-रागिनियों (सोहर, झूमर, बिरहा, लचारी) में गीत गाये जाते हैं तथा जिस ढंग से स्वांग बनाकर हँडिया में गोबर, गिली मिट्टी या मेंढक भरकर किसी सोये व्यक्ति के चारपाई पर पटका जाता है, वह सब अपने में एक महत्त्वपूर्ण नाटकीय सन्दर्भ को छिपाये हुए है। वर्षा हेतु इन्द्र देव की आराधना इस प्रदर्शन का उद्देश्य है, जिसमें स्त्रियों की श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ प्रकारान्तर से व्यक्त होती हैं, इसलिए स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित होने वाला यह आयोजन भी लोकनाट्य की सीमा में आ सकता है।

गवनिहारिन नाच

भोजपुरी क्षेत्र के भिन्न-भिन्न अंचलों में इस नाच के भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हैं। छपरा, बलिया तथा गाजीपुर में इसे खटकिन की नाच, पटना में इसे मिरियासिन की नाच, जसपुर, पलामू तथा गया की तरफ इसे गीत-गवनी की नाच, कहीं भाटिन की नाच तथा बनारस में इसे गवनिहारिन की नाच कहते हैं। डॉ० महेश कुमार सिन्हा ने अपने कार्य ‘बिहार की नाटकीय तथा नाटकीय प्राय लोक-विधायें’ में मिरियासिनों के नाच का उल्लेख किया है। डॉ० श्रीधर मिश्र ने अपने शोध में खटकिन की नाच का वर्णन करते हुए लिखा है— ‘जैसे पुरुषों का नाच भाँड़ है, वैसे ही स्त्रियों के नृत्य-नाट्य को ‘खटकिन का नाच’ कहते हैं। इसमें औरतें अभिनय करती हैं, वे ही पुरुषों के भी अभिनय करती हैं।⁶¹ अपने अभिनय में ये बहुत गाली-गलौज करती हैं, ये नाटक भी करती हैं।

कुछ पुराने लोगों से बातचीत करने पर इस बात की जानकारी मिली कि आज से पचास वर्ष पूर्व बारातों में बनारस, छपरा आदि जगहों से इन गवनिहारिनों की नाच सट्टे पर मनोरंजन के लिए बुलाई जाती थी। बड़े लोगों की बारात में जहाँ रण्डी की नाच तथा भाँड़ मण्डली अभिनय हेतु आती थी, वहाँ गवनिहारिन की नाच भी आती थी, किन्तु अब इनका बारातों में ज्यादा प्रचलन नहीं है, इनका जाना एक प्रकार से समाप्त ही हो गया है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में बनारस शहर आज से पाँच दशक पूर्व गवनिहारिनों का गढ़ रहा है। वहाँ इस नाच की बड़ी पुरानी परम्परा रही है। श्री शिवप्रसाद मिश्र रुद्र 'काशिकेय' ने अपने उपन्यास 'बहती गंगा' में दुलारी नामक एक गवनिहारिन का उल्लेख किया है, जो सन् 1870 के आस-पास बनारस शहर में लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच चुकी थी।⁶² इस नाच का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए मुझे वाराणसी शहर में काफी खाक छाननी पड़ी। बड़े परिश्रम के बाद ईश्वरगंगी मुहल्ला में बिहारी⁶³ (जो नपुंसक है) नाम के नर्तक से साक्षात्कार हुआ, जो आज से पचास-पचपन वर्ष पूर्व गवनिहारिनों के नाच का मुखिया रह चुका था। भेंट के दौरान उसने बताया कि जब वह अपने किशोरावस्था में था तो अमावाटेकारी (गया) के राजा की बारात में मसूरी गया था, जहाँ वह 26 दिन तक अपनी नाच के प्रदर्शन, विभिन्न प्रहसन और स्वांग दिखाता रहा था। वह इन्दौर (मध्य-प्रदेश) में राजा हुकुमचन्द के यहाँ लगभग एक महीना तक रह गया और अपने गीत, अभिनय एवं स्वांग से लोगों को मुग्ध करता रहा।

गवनिहारिन नाच की मण्डली में नृत्य और अभिनय करने वाली सभी स्त्रियाँ होती हैं। कुछ नपुंसक भी जो साड़ी-ब्लाउज पहनते हैं, इस मण्डली में ले लिये जाते हैं। वाद्य यंत्रों में तबला, ढोलक, हारमोनियम, मँजीरा रहता है। इनको बजाने वाली भी स्त्रियाँ ही रहती हैं। कुल मिलाकर इस मण्डली में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या 10 से लेकर 12 तक रहती है। सुरक्षा के लिए ये एक-दो पुरुष भी रखती हैं, किन्तु प्रदर्शन में उनका कोई योगदान नहीं होता है।

ये विवाह और पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर नृत्य करने के लिए बुलायी जाती हैं या स्वयं ये अच्छा नेग प्राप्त करने के लिए पहुँच जाती हैं। चूँकि बनारस के सम्पन्न घरों में इन अवसरों पर नर्तकियों का नृत्य होता था, इसलिए मध्यम श्रेणी और निम्न श्रेणी के लोग अपनी असमर्थतावश नर्तकियों का नाच न करा पाकर गवनिहारिनों की नाच कराने में अपना गौरव समझते थे। इसलिए इनके नाच की सामान्य जन में बड़ी लोकप्रियता रही है। पचास वर्ष पूर्व बनारस की सुनरिया और बुधनी स्वांग पेश करने और गीत गाने में अच्छी गवनिहारिन समझी जाती रही हैं।⁶⁴

अवसर के अनुकूल गीत और नृत्य प्रस्तुत करने के साथ ही साथ ये छोटे-छोटे प्रहसन भी करती हैं तथा विभिन्न प्रकार के नकल भी उतारती हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले स्वांगों में 'बिच्छू मारने का नकल', 'बच्चा पैदा होने का नकल', 'साधु का नकल', 'गोदनिहारिन का नकल' मुख्य रूप से हैं। इनके अलावा भी ये देश-काल और प्रसंग के अनुकूल छोटे-छोटे हास्य-व्यंग्यपूर्ण अभिनय प्रस्तुत कर सारी रात दर्शकों का मनोरंजन करती रहती हैं। कभी-कभी तो रात 8-9 बजे से प्रारम्भ हुई नाच प्रातः तक भी होती रहती है। बिच्छू मारने का नकल उतारते समय जब ये दर्द से तड़पती हुई अपनी मण्डली के बीच में आकर निम्नलिखित गीत गाती हैं तो उस समय का दृश्य देखते ही बनता है -

अरे रामा, रामा हो रामा,
अरे हमरे अँगूठा चढ़ल,
बिछुआ आइल हो रामा, रामा हो रामा।

इस पंक्ति के साथ कराहते हुए अपना अँगूठा पकड़कर दर्शकों के बीच में बैठ जाती हैं। इसके बाद टेहुनी पकड़कर बैठती हुई कहती हैं -

अरे हमरे टेहुनी चढ़ल,
बिछुआ आइल हो रामा, रामा, रामा हो रामा।

टेहुनी से ऊपर अपने उरोजों को दबाकर आह भरते हुए वह आगे गाती हैं-

अरे हमरे जोबना चढ़ल,
बिछुआ आइल हो रामा, रामा, रामा हो रामा।

फिर सिर पकड़ते हुए वह कहती हैं-

अरे हमरे मुँड़वा चढ़ल,
बिछुआ आइल हो रामा, रामा, रामा हो रामा।

इसके बाद वह अपने सारे शरीर को जमीन पर पटकने लगती हैं, कभी पैर पटकती हैं, कभी हाथ पटकती हैं, कभी नितम्ब जमीन में धरती हैं और कहती हैं-

हमरे सगरे शरीरिया
बिछुआ आइल हो रामा, रामा, रामा हो रामा।

इसी प्रकार वह बड़े आकर्षक कलात्मक ढंग से बच्चे के पैदा होने का स्वांग प्रस्तुत

करती हैं। गवनिहारिनों द्वारा अभिनीत बच्चा पैदा होने का अभिनय लगभग वैसा ही होता है, जैसा सामुदायिक रूप से अभिनीत किये जाने वाले 'डोमकच' के अन्तर्गत जलुवा के पैदा होने का स्वांग प्रस्तुत किया जाता है। यह निश्चित करना कठिन है कि गवनिहारिनों के इस स्वांग को देखकर औरतों ने अपने जलुवा के प्रदर्शन में ले लिया है या 'डोमकच' के अन्तर्गत इसे अभिनीत हुआ देखकर गवनिहारिनों ने अपने अभिनय में ले लिया है। गवनिहारिनों के इस प्रदर्शन में नाटकीयता 'जलुवा' से अधिक होती है। एक गवनिहारिन अपने पेट को कपड़े से फुलाये हुए तथा उसमें कुत्ते के बच्चे को छिपाये गर्भिणी स्त्री का स्वांग पेश करती हुई दर्शकों के सामने उपस्थित होती है और यह गीत शुरू करती हैं— 'ये पिया मोरा पहिला मासों'। गवनिहारिनों का एक दूसरा वर्ग जो बगल में वाद्य यंत्रों के साथ बैठी रहती हैं, ऊपर की पंक्ति को प्रभावकारी बनाने के लिए एक साथ कह उठती हैं— 'वाह वाह जी वाह वाह'।

इसी प्रकार गर्भिणी स्त्री का नकल उतारने वाली गवनिहारिन क्रम से नवों महीनों दास्तान पेश करती है और हर महीने के वर्णन पर दूसरा वर्ग 'वाह—वाह' की पंक्ति लय और अदा भरी तर्ज के साथ दुहराता रहता है। बच्चा जल्दी पैदा नहीं होता है। दाइन आती है और प्रयास करती है। अन्त में दो ईंटे मँगाई जाती है, उन्हीं ईंटों पर एक—एक पाँव रखकर गर्भिणी का स्वांग दिखाने वाली गवनिहारिन कराहते हुए बैठती है और झट से अपने पेट को ढीला करते हुए कुत्ते का बच्चा छोड़ देती है, जो कान दबाने के कारण पें—पें करता हुआ दर्शकों की ओर भागता है और दर्शक वर्ग हँसी के मारे लोट—पोट हो जाते हैं।

इसी प्रकार इनके द्वारा साधू बाबा और गोदनिहारिन का भी स्वांग पेश किया जाता है। साधू की नकल पेश करते समय एक स्त्री साधू का स्वांग बनाकर (गले में माला, एक हाथ में तूमड़ी, दूसरे हाथ में चिमटा लिये हुए टीका लगाये) अभिनय स्थान पर प्रवेश करती है। दूसरी गवनिहारिन उससे पूछती है— 'ये साधू बाबा तूहरे लोटवा में का बा।' साधू बाबा कहते हैं— 'ये बच्चा हमरे लोटवा में कुछू नइखे।' 'ये साधू बाबा तुहरे तुमड़ी में का—का बिकाला।' साधू बाबा कहते हैं— 'एक तुमड़ी में खैर—सुपाड़ी, दूसरे में फलनियाँ के 'गन्दी बात'।'

गवनिहारिनों द्वारा अपने स्वांगों से दर्शकों का मनोरंजन अवश्य किया जाता है, किन्तु इनका स्वांग एवं प्रदर्शन विधि इतनी अश्लील, श्रृंगारिक एवं हास्यपूर्ण होता है कि शिष्ट समाज इसको देखना पसंद नहीं करता है। कालान्तर में जब गवनिहारिनें अपने दलों में भद्र घरों से लड़कियों को भी खींचने लगीं तो शिष्ट समाज इनको उपेक्षा एवं घृणा की दृष्टि से देखने लगा। यही कारण है कि धीरे—धीरे यह नाच समाप्त होने लगा।

(7) मनुष्य से इतर अन्य माध्यमों से अभिनीत होने वाले लोकनाट्य

भोजपुरी क्षेत्र में प्रदर्शित होने वाले लोकनाट्यों में कुछ लोकनाट्य ऐसे भी हैं, जिनमें मनुष्यों का महत्वपूर्ण योगदान न होकर कुछ निर्जीव पदार्थों तथा पशुओं का होता है। यद्यपि इन निर्जीव पदार्थों तथा पशुओं को संचालित करने में मनुष्य की भूमिका मुख्य होती है, किन्तु फिर भी प्रदर्शन मनुष्य द्वारा न होकर अन्य माध्यमों से होता है। इसीलिए हमने इसे लोकनाट्यों के वर्गीकरण में एक पृथक कोटि में रखा है। भोजपुरी क्षेत्र में इस कोटि में 'कठपुतली का नाच' तथा 'बंदर-भालू' का नाच मुख्य रूप से आते हैं।

कठपुतली का नाच

काठ के धड़वाली, बिना पाँव की वह गुड़िया, जो अपने गोल, चपटे चेहरे, लम्बी-मोटी आँखें, उभरे ऊँचे कान, फूले हुए नथुने, लटके-खुले ओठ तथा चपटी-चौड़ी कनपटी लिये रंग-बिरंगी वेशभूषा में अपनी रूढ़िगत साज-सज्जा तथा आकार-प्रकार के साथ लचक लिये होती हैं, कठपुतली कहलाती हैं।⁶⁵ कठपुतली के खेलों का सम्बन्ध सुदूर इतिहास की गहराइयों से जुड़ा हुआ है। हमारे देश में कठपुतली का नाच मनोरंजन का बड़ा प्राचीन साधन रह चुका है। पहले-पहल इसका उल्लेख महाभारत में हुआ है। उपमा के रूप में कहा गया है कि मानव तारों से बँधी हुई कठपुतली की तरह ईश्वर के द्वारा चलाये जा रहे हैं।⁶⁶ कामसूत्र में वात्स्यायन ने सूत्र-क्रीड़ा को एक कला माना है।⁶⁷ पंचतंत्र में 'काष्ठचिक्रीडनक'⁶⁸ शब्द आया है। इसका अर्थ गुड़ियों का नाच दिया गया है। कवि श्रीहर्ष का कहना है कि नल के प्रमोद-भवन में निरन्तर कठपुतली का नाच हुआ करता था तथा सूत्रधार लोग फाटक की आड़ में बैठकर गुड़ियों को नचाते थे।⁶⁹ अवादान-कल्पलता में गुड़ियों के नाच का नाम 'यंत्रपुत्रक लीला' दिया गया है।⁷⁰ इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि गुड़ियों का नाच हमारे देश में महाभारत काल से ही प्रारम्भ था।

इस खेल का विशेष प्रचलन राजस्थान में है। लगता ऐसा है कि वहीं से कठपुतली वालों के दल सारे उत्तर भारत में फैले हैं। अब तो ये उत्तर भारत के विभिन्न अंचलों में खानाबदोश जाति के रूप में निवास करते हैं और अपना प्रदर्शन दिखाकर किसी प्रकार पेट पालते हैं। भोजपुरी क्षेत्र भी इनसे वंचित नहीं है। यों तो कठपुतली नचाने वालों के दल विशेष रूप से भोजपुरी क्षेत्र में लगने वाले बड़े मेलों में ही अपना प्रदर्शन दिखाते हुए मिलते हैं। इन मेलों में मुख्य रूप से चैत्र रामनवमी के अवसर पर लगने वाला देवीपाटन का मेला (बस्ती), तरकुलही भवानी का मेला (गोरखपुर), गोविन्द साहब का मेला (आजमगढ़), ददरी का मेला (बलिया) अधिक प्रसिद्ध है। ये मेले 15-20 दिन तक चलते

हैं और कठपुतली वाले टिकट लगाकर लगभग ढाई—तीन घण्टे तक के प्रोग्राम में अपना खेल दिखाते हैं। इसके अलावा ये किसी भी बँगले के अहाते में, दरवाजे पर, खुले मैदान अथवा छोटे बरामदे में झुटपुटे के बाद बिजली, पेट्रोमेक्स अथवा लालटेन की रोशनी में बड़ा सा साफा और मोटे—झोटे, फटे—पुराने कपड़े पहने हुए दो—तीन पुरुषों और रंगीन घाघरा चोली और ओढ़नी पहने हुए एक—दो स्त्रियों के साथ अपने चारों ओर उत्सुक बूढ़े—बच्चों और नौजवानों की एक छोटी सी भीड़ इकट्ठी किये हुए देखे जा सकते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में कठपुतली नाच में प्रायः गुलाबो—सिताबों नामक दो बहनों के झगड़े को प्रदर्शित किया जाता है। कठपुतली नचाने वाला पुरुष जिसे नचवइया कहते हैं, दो लकड़ी या कपड़े की बनी हुई गुड़ियों को हाथ में लेकर नचाता हुआ खेल दिखाता है तथा साथ में गाना भी गाता जाता है —

गुलाबो खूब झगरिहें, मलीदा घोरि पीहें।
 गुलाबो रीन्हीं बरी, सिताबो रीन्हीं दाल।
 गुलाबो के जरि गे बरी, सिताबो भई बेहाल।
 गुलाबो खूब झगरिहें, सिताबो झूब झगरिहें, मलीदा घोरि पीहें।

नचवैया के साथ—साथ एक ढोलक वाली भी रहती है जो ढोलक का ताल देकर पुतलियों को प्रोत्साहन देती है तथा बीच—बीच में कथा को गति प्रदान करती है। नचाने वाला केवल अपने अँगुलियों से पुतलियों को संचालित ही नहीं करता है, अपितु मंच के एक ओर बैठा पुतलियों के साथ बातें करता हुआ उन्हें प्रोत्साहित भी करता है। वह अपने मुख में बाँस की बनी पी—पी रखकर भाँति—भाँति की ऊँची—नीची आवाजें भी निकालता है, जो बड़ी आकर्षक लगती हैं।

यों तो भोजपुरी क्षेत्र में प्रदर्शित होने वाले कठपुतली के खेलों के विषय गुलाबो—सिताबो बहनों के झगड़े के अलावा अन्य भी छोटे—छोटे कथानकों पर आधारित होते हैं। रामायण, महाभारत, कृष्णलीला, रानी लक्ष्मीबाई, वीर कुँवर सिंह से लेकर आधुनिक सन्दर्भ के प्रौढ़ शिक्षा, परिवार नियोजन तक प्रदर्शित होते हैं, किन्तु गोरखपुर के तरकुलही देवी के मेला में मुझे राजा अमर सिंह राठौर के खेल का जो प्रदर्शन देखने को मिला, वह अभूतपूर्व रहा। राणा अमर सिंह का खेल मुगल दरबार से प्रारम्भ होता है। आगरे के किले में शाहजहाँ का दरबार लगा हुआ है। सात दिन में लौटने की बात कर अमर सिंह अपनी नव—परिणीता के प्रेम में छः महीना गुजार देता है। शाहजहाँ अमर सिंह की गुस्ताखी से खफा होकर दण्ड की घोषणा करता है। अमर सिंह का राजपूती खून खौल उठता है। वह बादशाह की आज्ञा का विरोध करता है। इस पर बादशाह

अमर सिंह को तुरन्त दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा देता है। अमर सिंह दण्ड की रकम जमा करने के बहाने दरबार में आता है और अपनी तलवार से कई व्यक्तियों को मौत के घाट उतारता हुआ बादशाह पर हमला करता है, पर बादशाह वहाँ से भाग निकलता है। अन्त में अमर सिंह का साला अर्जुन गोंड अमर सिंह को अपने साथ ले जाता है और धोखे से मार गिराता है। इतने में अमर सिंह का भतीजा राम सिंह वहाँ आ निकलता है जो अर्जुन गोंड का धड़ उड़ाकर अपने चाचा का बदला लेता है।⁷¹

यद्यपि यह घटना मुगल काल की है, पर उत्तर भारत के कठपुतली की नाच दिखाने वालों के द्वारा यह अपने लोकग्राही रूप में अभी भी नवीन है। इधर नचाने वाला अपने हाथ की उँगलियों के करामात से अमर सिंह की विशेषताओं को नाटकीय ढंग से प्रदर्शित करता है, उधर उसके साथ की ढोलकिया अपने गीतों में अदाकारी के साथ घटना को गाती है। इस प्रकार छोटे से मुगल दरबार में युद्ध, उत्साह, क्रोध के भावों का दृश्य देखते ही बनता है।

अमर सिंह राठौर कठपुतली खेल के रंगमंच पर सबसे पहले झाडू देने और भिश्ती पानी का छिड़काव करने आता है। उसके बाद दरबारी लोग अपने-अपने स्थान पर बैठते हैं। एक कठपुतली विदूषक का काम करती है, जो दर्शकों को बीच-बीच में अपने हाव-भाव से हँसाती रहती है। जब सब ठीक से बैठ जाते हैं, तो बादशाह का आगमन होता है, पलटन सलामी देती है। दरबारी लोग नतमस्तक होकर बादशाह को नमस्कार करते हैं। उधर ढोलकिया बजाती रहती है और सबके आने की सूचना देती है। कठपुतलियों के सवाल-जवाब नचाने वाले के मुँह से दबी हुई चूँ-चूँ बोलने वाली आवाज से व्यक्त होते हैं। दरबार में नर्तकियों का गाना-बजाना होता है। पहलवान भी आकर तलवार और पट्टे का काम दिखाते हैं। सरदार लोग हाथी-घोड़ा पर बैठकर आते हैं और फिर इसके बाद अमर सिंह का मुख्य खेल शुरू होता है।

कठपुतली का खेल अपनी विशेषताओं, चमत्कारिक कला एवं प्रभाव के कारण ही भारत, लंका, चीन, जावा और सुदूर पश्चिमी कुछ देशों में आज भी लोक-मनोरंजन का माध्यम बना हुआ है।

पुतली कला के इस आकर्षण और लोकप्रियता के बावजूद सर्वेक्षण से पुतली नचानेवालों से व्यक्तिगत सम्पर्क करने से मेरा यह अनुभव है कि धीरे-धीरे यह कला अब समाप्त होती जा रही है। परम्परागत पुतली नचाने वालों में न तो अब उत्साह ही दीख रहा है और न अपने पुतली को सँवारने, टूटने-फूटने पर बनाने की सामर्थ्य ही दीख रही है। सचमुच लोकमनोरंजन का यह साधन बड़ी जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है।

कठपुतली नाचने वाले न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि पुराने कलाकारों के मृत्यु हो जाने के बाद कला की दृष्टि से भी बड़ी हीन अवस्था में हैं। अब तो घोर अशिक्षा के कारण ये अपनी पुरस्तैनी कला भी खोते जा रहे हैं। दर्शकों की ओर से उत्साह और प्रोत्साहन न पाने के कारण ये अपनी कला में नवीनता लाने का प्रयत्न नहीं करते। फटी-पुरानी पुतलियों को सँवारने अथवा उनमें नई कहानियाँ भरने की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा रही है। अगर कहीं कुछ नवीनता आई भी है तो वह इस परम्परागत लोक कला के प्रदर्शन को और भी निम्नस्तरीय बना दी है। जैसे कुछ कठपुतली वाले अपने प्रदर्शन के दौरान लोकभाषा के सरस गीतों के स्थान पर फिल्मों के गीत गाने लगे हैं, इधर भारत सरकार और राज्य शासनों के सूचना और प्रसारण मंत्रालयों द्वारा विभिन्न आंचलिक भाषाओं में कठपुतलियों का प्रदर्शन सामयिक प्रसंगों पर प्रचार हेतु किया जा रहा है।

संदर्भ

1. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक), पृ०-354।
2. लोकधर्मी नाट्य परम्परा : डॉ० श्याम परमार, पृ०-25।
3. लोकरंग, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, (श्री रामनारायण अग्रवाल का लेख 'रामलीला') पृ०-15।
4. धर्मयुग (26 सितम्बर से 2 अक्टूबर तक), 1977 'रामनगर की रामलीला': राममोहन पाठक, पृ०-11।
5. लोकरंग, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, 'रामलीला' : रामनारायण अग्रवाल, पृ०-20।
6. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक) जगदीश चन्द्र माथुर, पृ०-355।
7. धर्मयुग, 26 सितम्बर, 1976, 'रामनगर की रामलीला' : राममोहन पाठक, पृ०-08।
8. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच : आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ०-311।
9. अवधी का लोकसाहित्य : डॉ० सरोजनी रोहतगी, पृ०-361।
10. आर्ट एण्ड सोशल लाइफ, जी० वि० प्लेखनोव, पीपुल्स पब्लिसिंग हाऊस, बम्बई, 1953, पृ०-11, 21।
11. लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ : डॉ० महेन्द्र भानावत, पृ०-200।
12. भोजपुरी लोक साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ० श्रीधर मिश्र, पृ०-352।
13. बाँस के टुकड़े को काटकर पीट-पीट करके बना लेते हैं, जिससे मारने पर चोट तो नहीं लगती, पर आवाज खूब होती है।

14. कसौरी- फूल की छोटी सी थाली को कसौरी कहते हैं। इसे मधुर ध्वनि से मृदंग के साथ बजाया जाता है।
15. पूर्वी जिलों में पानी और कीचड़ से बचाव के लिए किसान अपने पाँवों में काठ का बना (खड़ाऊं के तरह बना एक साधन) पहनते हैं, उसे पउवा कहते हैं। इसमें खड़ाऊं की तरह खूँटी नहीं होती, अपितु मोटी सी रस्सी अँगुलियों को फँसाने के लिए लगी रहती है। घाघ ने भी इसका वर्णन किया है, 'बिन बरसात के पहने पउवा, घाघ कहे ऊ कउवा'।
16. माटी की गमक (तृतीय संस्करण) : त्रिलोकी नाथ उपाध्याय, पृ0-124।
17. बोटल में मिट्टी का तेल भरकर ऊपर से गीले आटे द्वारा मुँह बन्द कर देते हैं। बीच में बाती रखकर जलाते हैं, इसे मशाल कहते हैं।
18. हलायुध कोष, सं0 जयशंकर जोशी, पृ0-581।
19. भोजपुरी लोकसाहित्य-सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ0 श्रीधर मिश्र, पृ0-339।
20. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पृ0-720।
21. The Dance are simple dramatic or operatic performances, freely interspersed with dance numbers rather than true dance performances. One may almost consider them as an early stage in the development of the comic opera. Very often, the stories, alight though they be, are based on the themes from the legends of the gods, and contain much scope for buffoonery and clowning. The somewhat coarse sense of humour of the dialogue is not without a suitable under-current of clever satire, and there is always much witty punning and word-play in the repartee of the clowns. The actual dancing is performed by this lighter element in the dramatic personal. --Folk Dance of India (First publication in 1944), Kitabistan, Allahabad, by Projesh Banerji, PP. 115-116.
22. यजुर्वेद संहिता, 30वाँ अध्याय, 6 मंत्र, 'नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय समाचारनरिष्ठाये।'।
23. नट-नर्तक संधानां गायकानां च गायताम्, मतः कर्णसुखोवाचः शुश्रव जनता ततः। षष्ट सर्ग)
24. संस्कृत नाटक : ए0 बी0 कीथ, भाषान्तर- उदयभानु सिंह, पृ0-21।
25. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 27वाँ अध्याय।
26. हिन्दी साहित्य कोष : सं0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0-365-66।
27. अवधी का लोकसाहित्य : डॉ0 सरोजनी रोहतगी, पृ0-276।
28. आलोचना (त्रैमासिक), नाटक विशेषांक, हिन्दी लोकनाट्य : डॉ0 रवीन्द्र भ्रमर।
29. मृगनयनी : वृन्दावन लाल वर्मा, 17वाँ संस्करण, 1968, पृ0-470।
30. अँजोर, भोजपुरी परिवार पटना का त्रैमासिक पत्र, अप्रैल-जुलाई, 1971, पृ0-09।
31. जनकवि भिखारी ठाकुर : महेन्द्र प्रसाद, (भूमिका भाग)।
32. भारतीय एवं पाश्चात्य रंगमंच : पं0 सीताराम चतुर्वेदी, पृ0-718।
33. लोकरंग, (सं0 डॉ0 महेन्द्र भानावत), रामलीला - डॉ0 श्याम परमार, पृ0-42।
34. लोकरंग, (सं0 डॉ0 महेन्द्र भानावत), पृ0-51।
35. पं0 गणेश चौबे, 'सम ट्रिब्यूनल सांग्स फ्राम चम्पारन'।
36. माटी के गमक, अक्टूबर-नवम्बर, 1977, 'विरहिनी आ झपटा', लेखक : सिपाही सिंह श्रीमन्त।
37. जायसी ग्रन्थावली : पं0 रामचन्द्र शुक्ल, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) पृ0-275।
38. कबीर वचनावली : अयोध्या सिंह उपाध्याय (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) पृ0-216।
39. हिन्दी नाटक - उद्भव और विकास : डॉ0 दशरथ ओझा, (प्रथम संस्करण) पृ0-51।
40. अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' (प्रकाशक- हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई) पृ0-12।

41. मराठी नाट्य सृष्टि – पौराणिक नाटकें : विश्वनाथ पाण्डुरंग दाण्डेकर, सन् 1941, पृ0-05।
42. हिन्दी नाटक – उद्भव और विकास : डॉ0 दशरथ ओझा, (पंचम संस्करण) पृ0-83।
43. उपरिवत, पृ0-51।
44. आइने अकबरी, (वालयूम-3), पृ0-272, डॉ0 यदुनाथ सरकार।
45. अवधी का लोकसाहित्य : डॉ0 सरोजनी रोहतगी, पृ0-352।
46. परिषद पत्रिका, (अप्रैल 1976 ई0) डॉ0 महेन्द्र कुमार सिन्हा का लेख 'लोकनाटक की परम्परा और बिहार', पृ0-98।
47. भोजपुरी लोकसाहित्य-सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ0 श्रीधर मिश्र, पृ0-35।
48. हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास : डॉ0 दशरथ ओझा, पृ0-50-51।
49. भोजपुरी लोकसाहित्य-सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ0 श्रीधर मिश्र, पृ0-354।
50. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षोडश भाग) सं0 महापंडित राहुल सांकृत्यायन एवं डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ0-536।
51. बिहार की नाटकीय तथा नाटकीय-प्राय लोक-विधायें, डॉ0 महेन्द्र प्रसाद सिन्हा का अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, पृ0-356।
52. लोकधर्मी नाट्य परम्परा : डॉ0 श्याम परमार, पृ0-78।
53. लोकनाट्य – परम्परा और प्रवृत्तियाँ : डॉ0 महेन्द्र भानावत, पृ0-215।
54. परम्पराशील नाट्य : श्री जगदीश चन्द्र माथुर, पृ0-131।
55. उपरिवत, पृ0-123।
56. 'परती परिकथा' : फणीश्वर नाथ रेणु, पृ0-189।
57. लोक संस्कृति के मनस्वी अध्येता पं0 गणेश चौबे, (पश्चिमी चम्पारन के निवासी) से प्राप्त विवरण के आधार पर।
58. किसी ब्राह्मण का नाम लेकर गीत गाया जाता है।
59. 'दि गोल्डेन वाउ-स्टडी इन मैजिक एण्ड रीलिजन', पृ0-186, जे0 सी0 फ्रेजर (द्वितीय संस्करण), लंदन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि0, न्यूयार्क।
60. दी पापुलर रिलिजन एण्ड फोकलोर ऑफ नादर्न इण्डिया, डब्ल्यू0 क्रूक, ऑफिस ऑफ दि सुपरिटेण्डेंट ऑफ गवर्नमेंट प्रिंटिंग प्रेस, कलकत्ता, 1886।
61. भोजपुरी लोक-साहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ0 श्रीधर मिश्र, पृ0-360।
62. बहती गंगा : डॉ0 शिवप्रसाद मिश्र रुद्र 'काशीकेय', पृ0-88-89।
63. बिहारी नर्तक, मकान नं0 56/46, ईश्वरगंगी, वाराणसी, उम्र -85 वर्ष।
64. श्री गिरिजा शंकर पाण्डेय, वकील, डेढसी का पुल, दशाश्वमेध, वाराणसी से प्राप्त जानकारी के आधार पर।
65. लोकरंग (सं0 डॉ0 महेन्द्र भानावत), पृ0-228।
66. महाभारत – 5/32/13।
67. कामसूत्र – 1/3/16।
68. पंचतंत्र, 1/5।
69. नैषध चरित, 18/13।
70. अवदान कल्पलता, 65/197।
71. गोरखपुर के तरकुलही देवी के मेला में आई एक पार्टी 'झुगन खाँ' द्वारा प्रदर्शित 'अमर सिंह राठौर' खेल के आधार पर।

बिदेसिया और उसकी परम्परा

भोजपुरी क्षेत्र (पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार) में लोकनर्तक मण्डलियों की परम्परा मध्यकाल से अद्यावधि एक-रस चली आ रही है। परम्परा पर मध्ययुगीन लीलावादी वैष्णव भक्ति धारा का अमिट प्रभाव रहा है, इसलिए राम और कृष्ण के जीवन की मुख्य-मुख्य लीलाओं को आधार बनाकर उन्हें मंच पर प्रदर्शित किया जाता रहा है।¹ कृष्ण-सुदामा, नल-दमयन्ती, भक्त प्रहलाद, श्रवण कुमार तथा वीर अभिमन्यु सम्बन्धी पौराणिक आख्यानों पर निर्मित लोकनाट्य भी इन मंचों पर अभिनीत होते रहे हैं।

धार्मिक और पौराणिक आख्यानों पर आधारित लोकनाट्यों के साथ ही साथ लौकिक निजन्धरी कथा-कहानियों, लोकगाथाओं और प्रेमाख्यानों पर निर्मित लोकनाट्य भी भोजपुरी क्षेत्र के लोकमंच पर अभिनीत होते आये हैं। इन आख्यानों में 'सारंगा सदाबृज', 'सोरठी बृजाभार', 'शीत-बसन्त', 'शोभा-नयकवा बनजारा', 'कुँवर विजई' और 'भरथरी चरित्र' आदि प्रसिद्ध हैं, जो भोजपुरी लोकनाट्य रचना के उपजीव्य रहे और जिनकी कथावस्तु पर निर्मित लोकनाट्य परम्परा एक-रस बनी रही। इन लोकनाट्यों में मनोरंजन के तत्त्व तो प्रचुर मात्रा में थे ही, इनमें निहित रोमानी भावनायें तथा त्याग बलिदान, शौर्य आदि उच्च आदर्शों से भोजपुरी क्षेत्र की ग्रामीण जनता का मानस चिरकाल से अभिभूत होता रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक भोजपुरी क्षेत्र के ग्रामीण अंचल में एक ओर जहाँ लोकनर्तक मण्डलियों द्वारा तुलसीकृत 'रामचरित मानस' के भिन्न-भिन्न प्रसंगों यथा- रामजन्म, राम-विवाह, सीताहरण, भरतमिलाप तथा पौराणिक कथाओं पर आधारित कृष्ण-सुदामा, भक्त प्रहलाद, नल-दमयन्ती, श्रवण कुमार आदि से सम्बन्धित दृश्यों को और लौकिक प्रेमाख्यानों पर आधारित सोरठी-बृजाभार, कुँवर विजई जैसे

लोकनाट्यों को अभिनीत किया जाता रहा, वहीं इस अंचल के काशी, मिर्जापुर, आरा, छपरा, सीवान, पटना आदि नगरों में पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा प्रदर्शित रोमानी नाटक अपने चटक तेवर के साथ दर्शकों को आकर्षित कर रहे थे, ठीक उसी समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में भोजपुरी लोकनाट्य की इस सुदीर्घ परम्परा में एक बड़ा ही युगान्तकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ और यह परिवर्तन न केवल लोकनाटकों की भाव भूमि में ही परिलक्षित हुआ, बल्कि लोक रंगमंचीय कलाकारों के संगठनात्मक स्तर पर भी देखा गया। इस विशाल भोजपुरी क्षेत्र में शताब्दियों से चली आती हुई लोकनाट्य परम्परा में अभिनव परिवर्तन लाने का सर्वाधिक किंवा एकमात्र श्रेय एक निरक्षर अनपढ़ लोककलाकार को है, जिसका नाम 'भिखारी ठाकुर' था।²

वास्तव में भोजपुरी क्षेत्र में लोकनर्तक मण्डलियों द्वारा अभिनीत लोकनाटकों की श्रृंखला में भिखारी ठाकुर के आगमन से एक नई कड़ी जुड़ी, जिसका नाम विदेसिया नाच-मण्डली कहलाया। इसको मिलाकर भोजपुरी क्षेत्र में लोकनर्तक मण्डलियों द्वारा प्रदर्शित लोकनाट्यों के निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं— बिदेसिया नाच मण्डली, नौटंकी मण्डली, सपेड़ा नाच मण्डली, भाँड़ मण्डली और रामलीला मण्डली।

बिदेसिया नाच मण्डली

नाट्य प्रेमी भोजपुरी जनता को बिदेसिया नाच भिखारी ठाकुर की मौलिक देन है। उनके प्रथम भोजपुरी लोकनाटक 'बिदेसिया' के नाम पर 'बिदेसिया नाच मण्डली' प्रसिद्ध हुई, पर धीरे-धीरे यह नामकरण इस प्रकार के सभी लोकनाट्यों के लिए रूढ़ बन गया और भोजपुरी की लोकनाट्य परम्परा के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। कालान्तर में इसी शैली पर लिखित अन्य लोगों के नाटक भी बिदेसिया परम्परा में ही गिने जाने लगे। 'अतः बिहार में, विशेषकर भोजपुरी क्षेत्र में (पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बिहार) लोकनाट्य की जो नई परम्परा चली या लोकनाट्यों के क्षेत्र में जो आधुनिकीकरण की लहर चली, उसे बिदेसिया शैली अथवा बिदेसिया परम्परा के नाम से अभिहित किया जाने लगा।'³

बिदेसिया नाच मण्डली को भोजपुरी क्षेत्र में या उसके बाहर, जहाँ भोजपुरी भाषी निवास करते हैं (खासकर कोलकाता में) इसे 'भिखारी नाच' कहकर भी सम्बोधित करते हैं। अब तक नृत्य की अनेक शैलियाँ थीं, किन्तु भिखारी नाच नाम की कोई शैली नहीं थी, किन्तु भोजपुरी लोकजीवन जिस भिखारी के नृत्य पर लगभग साठ वर्षों तक मुग्ध होता रहा है, अब उसने भिखारी नाच को, नाच की एक शैली के रूप में स्वीकार कर लिया है। ऐसा प्रायः देखने में आता है कि मंच पर नृत्य किसी अन्य मण्डली की ओर

से हो रहा है, किन्तु उद्घोषक द्वारा जनता को शान्त करने के लिए घोषणा की जाती है, 'अब भिखारी नाच देखीं सभे।' बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जनपदों के कुछ गाँवों में भिखारी नाच को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त है।⁴ भिखारी नाच अथवा बिदेसिया नाच के अतिरिक्त भोजपुरी क्षेत्र में इन मण्डलियों को 'छोकरा मण्डली' या कहीं-कहीं 'लौंडा मण्डली' भी कहा जाता है। कहीं-कहीं मण्डली के प्रधान या स्वामी के नाम पर भी इनका नाम चलता है। इन अंचलों में प्रायः होता यह है कि किसी मण्डली में नर्तक या मुख्य अभिनेता की भूमिका निभाने वाला कोई कलाकार अपनी कला में निपुणता प्राप्त करने के बाद उस मण्डली को छोड़कर अपनी अलग मण्डली बना लेता है। वह कुछ वाद्य यंत्र, वेशभूषा के सामान खरीदकर और आस-पास के लोककलाकारों को लेकर एक मण्डली का गठन कर लेता है और स्वयं उसका संचालक बन जाता है। तबला, सारंगी, हारमोनियम, मजीरा आदि वाद्ययंत्रों के अतिरिक्त तीन-चार नर्तक और अभिनय करने वाले एक जोकर तथा दो सामान ढोने वालों को मिलाकर एक नाच मण्डली गठित हो जाती है। ये मण्डलियाँ शादी-विवाह के दिनों में बारातियों के मनोरंजन हेतु बुलाई जाती हैं। लगभग चालीस वर्ष पहले भोजपुरी क्षेत्र में शायद ही कोई विवाह होता हो, जिसमें वर पक्ष के लोग अपनी बारात में मनोरंजन के लिए इन नाच मण्डलियों को न ले जाते रहे हों।

यद्यपि बिदेसिया नाच मण्डली वाले यथार्थ में भोजपुरी लोकनाट्य अथवा जननाट्य के आधुनिक संवाहक हैं, फिर भी समाज में इनको वह सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त है, जो कलाकारों के लिए अपेक्षित है। इस उपेक्षा का मुख्य कारण यह है कि इन नृत्य-नाट्य मण्डलियों के अधिकांश कलाकार अशिक्षित हैं और समाज के निम्न वर्ग, मुख्यतः हरिजन और पिछड़े वर्ग के होते हैं। दूसरे यह कि हमारे समाज में नाच-गान को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार का अनुभव भिखारी ठाकुर को भी प्रारम्भ में हुआ था, तभी तो उन्होंने कहा है —

वरजत रहलन बाप-मतारी, नाच में तूँ मत रह भिखारी।

बिदेसिया नाच मण्डली द्वारा प्रदर्शित लोकनाट्यों की और इनके प्रदर्शन विधि की अपनी कुछ विलक्षणताएँ हैं। जैसे इन लोकनाट्यों में पुरुष ही स्त्री की वेशभूषा में स्त्री की भूमिका निभाता है। इनके लिए न तो विशेष रूप से निर्मित रंगमंच की आवश्यकता पड़ती है, न तड़क-भड़क वाले पर्दों की और न ही पात्रों के आकर्षक वेशभूषा की। ये जिन नाटकों का अभिनय करते हैं, वे नाटक भी भोजपुरी में शिक्षित-अर्द्धशिक्षित लोकनाट्यकारों द्वारा प्रायः ग्रामीण समस्याओं पर ही रचे गये होते हैं। कभी-कभी ये

नाटक मौखिक परम्परा से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक या एक मण्डली से दूसरी मण्डली में चलते रहते हैं और इनका लिखित या प्रकाशित रूप प्राप्त नहीं होता। इन लोकनाट्यों में से कुछ प्रमुख लोकनाट्यों का परिचय इस प्रकार है –

बिदेसिया

जनश्रुति है कि भिखारी ठाकुर ने तीस वर्ष की अवस्था में 'बिदेसिया' नाटक की रचना की थी और अपने गाँव कुतुबपुर के रामलीला मंच पर सर्वप्रथम उसका अभिनय किया था।⁵ यह भी कहा जाता है कि 'सुन्दरी-विलाप' तथा 'प्यारी सुन्दरी वियोग' (सन् 1919 ई० के आसपास रचित) नामक भोजपुरी रचनाओं के बाद श्रीनाथ शरण के नाम से क्रमशः सोलह और बीस भागों में बिदेसिया नाटक दूधनाथ प्रेस, सलकिया, हाबड़ा से प्रकाशित हुआ, जिसमें अधिकांश गीतों में भिखारी के नाम की छाप थी। कुछ दिनों के अनन्तर उनका 'कलियुग बहार' प्रकाशित हुआ, जिसमें वर्णित प्रोषित पतिका की वेदना का पूर्ण निखार 'बहरा-बहार' में और पर्यवसान अन्यान्य पुस्तिकाओं में हुआ।⁶ भिखारी ठाकुर के सम्पर्क में रहे श्री महेश्वराचार्य का कहना है कि भिखारी ठाकुर प्रणीत बिदेसिया नाटक अपने मूल रूप में प्रकाशित नहीं हो सका है। महेश्वराचार्य के इस कथन में सत्यता है क्योंकि भिखारी ठाकुर के नाम से जो बिदेसिया नाटक प्रकाशित होकर रामनारायण प्रभुनारायण साहू बुकसेलर, जॉब प्रेस, नीचीबाग, वाराणसी तथ अरूण पुस्तकालय एण्ड सन्स प्रेस, 63, जमुनालाल बजाज स्ट्रीट, कलकत्ता-7, से उपलब्ध हुए हैं, वे जाली हैं। इस तथ्य की पुष्टि स्वर्गीय भिखारी ठाकुर के सुपुत्र श्री गौरीशंकर ठाकुर से बातचीत करने पर हुई। अब भिखारी ठाकुर द्वारा रचित 'बिदेसिया' नाटक मूलरूप में प्रकाशित है। यद्यपि भिखारी ठाकुर ने बिदेसिया नाटक छपवाने के लिए नहीं, मंच पर प्रदर्शन करने के लिए तैयार किया था। गोरखपुर-बनारस से लेकर हाबड़ा तक सारे भोजपुरी भाषी जनता में भिखारी ठाकुर की मण्डली की प्रसिद्धि इसी नाटक के कारण हुई। चाहे विश्व विश्रुत सोनपुर का मेला हो या बलिया का ददरी मेला, चाहे हाबड़ा के बिहारी मजदूरों का इलाका हो, चाहे किसी के यहाँ शादी-ब्याह का अवसर हो, सब जगह भिखारी ठाकुर के बिदेसिया नाच के लिए अपार जनता टूट पड़ती थी। नौजवान, बूढ़े, स्त्रियाँ सब पर नशा-सा छा गया और बिदेसिया गीतों की लड़ियाँ सब की जबान पर चढ़ गई। इस नाटक के आयोजन से आकर्षित भीड़ को नियंत्रित करने के लिए पुलिस की व्यवस्था की जाती थी।

बिदेसिया लोकनाट्य की लोकप्रियता के कई कारण हैं, यथा- लोकभावना तथा प्रवृत्ति को उभारने वाली विषय-वस्तु का चयन, क्षेत्रीय बोली का व्यवहार, सोहर, पूर्वी,

खेमटा, चौबोला, जंतसारी, कवित्त, सवैया आदि लोकधुनों तथा लोककाव्य के प्रचलित छन्दों का प्रयोग श्रृंगार रस की प्रधानता, अकृत्रिमता एवं सहज अभिनेयता। शास्त्रीय परम्परा से हटकर लोकानुमोदित नाट्य टेक्निक के साथ दैनन्दिनी जीवन की समस्याओं से युक्त यथार्थवादी दृष्टि भी इसकी प्रसिद्धि का एक बड़ा कारण है। भिखारी ठाकुर की बिदेसिया का कथानक विशाल भोजपुरी भाषी क्षेत्र की आशा, आकांक्षा, मनोवृत्ति और रुचि के अनुकूल था। जिसमें वर्णित घटना तथा परिस्थितियों से दर्शक परिचित थे और उस नाटक के पात्रों से वे नैकट्य तथा आत्मीयता का अनुभव करते हुए उनमें किसी न किसी प्रकार प्रतिबिम्बित पाते थे। श्री जगदीश चन्द्र माथुर के शब्दों में— 'लोकप्रचलित गीतों को उन्होंने एक ऐसे कथानक में गूँथा, जिसमें पश्चिमी बिहार के ग्रामीण जीवन के यथार्थ और मेघदूत से आधुनिक युग तक प्रवासित विरहिणी नायिका और प्रेमियों के संदेशवाहक दूतों की परम्परा का अद्भुत मिश्रण है।'⁷

इस नाटक में कोई पूर्वी उत्तरप्रदेश या पश्चिमी बिहार का दीन व्यक्ति गवने के कुछ ही दिन बाद नवागता पत्नी से विदेश (रंगून) जाने की बात कहता है। नवागता ग्रामीणा अपने प्रेम की शपथ दिलाते हुये पति को विदेश गमन से रोकती है —

*हाय नाथ, तोहिं सौँपि दीन्ह, मोर भाई बाप मतारी।
सत के बन्धन तोरि के स्वामी, मति कहहु बरियारी।*

पति वादा करता है 'बरसि दिन पर आइबि' और 'आगे फगुआ में खेलबि अबीर से' मगर पत्नी अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई कहती है— 'कहे भिखारी कइसे चलिहें बिन इंजन के रेल।' फिर भी पति बहाना बनाकर चला जाता है। विरह—विदग्धा पत्नी 'संदेश—रासक' की नायिका के समान तड़पती—कुँहकती रह जाती है —

*गवना करइ सैया घर बैठवलें से, अपने गइलें परदेश रे बिदेसिया।
चढ़ली जवनियाँ बैरन भइलीं हमरी से, के मोर हरिहें कलेस रे बिदेसिया।
दिनवाँ बितेला सइयाँ बटिया जोहत तोर, रतिया बितेला जागि—जागि रे बिदेसिया।
घरी रात गइले पहर राति गइले से, धधके करेजवा में आगि रे बिदेसिया।*

इसी समय एक बटोही उस रास्ते से गुजरते दिखाई पड़ता है। उससे पोषित—पति का नायिका अपने संदेश प्रियतम से जाकर कहने के लिए निवेदन करती है —

*तोर धनी भइलीं रामा बन की कोइलिया से,
कुँहकति फिरे चारू ओर रे बिदेसिया।*

सहृदय बटोही द्वारा बिदेसी की पहचान पूछने पर वह बताती है —

करिया ना गोर बाटे, लामा नाही हउअन नाटे,
मँझिला जवान साम सुन्दर बटोहिया।
घुटिया ले धोती कारे, नकिया सुगा के ठोर,
सिर पर टोपी छाती चाकर बटोहिया।
पिया के सकल के तूँ मन में नकल लिखऽ,
हुलिया के पुड़िया बनाइलऽ बटोहिया।

बटोही उस हुलिया के सहारे रंगून पहुँचकर खोजते—खोजते वहाँ पहुँचता है, जहाँ विदेशी अपनी रखैल सलोनी के साथ चौपड़ खेल रहा होता है। पहले तो बटोहिया उस निर्मोही की भर्त्सना करता है और फिर स्मरण दिलाता है कि सुन्दर साँवरे वर्ण वाली उसकी प्यारी धनियाँ कैसी है —

तोहरा मेहरिया के कटि हो केहरिया के,
देखकर होइहि बान हो बिदेसिया।
मंथवा के बरवा भँवरवा समान बाटे,
मुँहवां दीपकवा बरत बा बिदेसिया।

बटोही विदेसी से उसकी विरहिणी पत्नी की स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है —

अइसन तिरियवा के सुधि बिसरवले से,
तोहरो के हवे धिरकार रे बिदेसिया।

बात विदेशी को लग जाती है और वह अधीरतावश थोड़ी देर के लिए मूर्च्छित हो जाता है। उसकी रखैल उसे आँचल झलकर होश में लाती है, फिर भी विदेशी 'वेसवा' (रखैल) के प्रबल मोहपाश को छोड़कर आ पाने में जब अपने को असमर्थ पाता है, तो बटोही निर्भय होकर उससे पूछता है —

तनी बोलऽ बिदेसी तूँ जइब की ना,
बहुत दिनन से कुमति कमइलऽ सुमति के सुपथ पऽ अइबऽ कि ना।
पापिनि गिधनियाँ के सोझा से दूर करऽ गाढ में से गइया बचइब कि ना।

बटोही के बार—बार आग्रह करने पर विदेशी किसी प्रकार बहाना बनाता है और 'वेसवा' के चंगुल से मुक्त होकर घर लौटने को तैयार हो जाता है। वह बाजार में जाकर अपनी स्त्री के लिए टिकुली, साड़ी, चोली खरीदता है और अपने घर लौटता है।

इधर बटोही द्वारा संदेश भेजने के बाद वियोगिनी को उसका देवर फुसलाना चाहता है 'अबहीं हमार बस में आ जा, तब देखऽ वैसा है मजा।' फुसलाने से न मानने पर बलात्कार पर उतारू हो जाता है, तब असहाय होकर वह भगवान से प्रार्थना करती है —

माजा राम भेजवलन पार। सुन लऽ देवर बात हमार।
जीव के पीउ में लागल आस। चाहे परो गला में फाँस।
है पिया कहाँ लगवल देरी। भइल हालत जस बाँझ बटेरी।
है विधि विसनू भइल बाँव। अब हम कवनी और पराँव।
है गंगा जी राखा लाज। हमें बा अपना पिउ से काज।

इतने में एक पड़ोसी से 'आग—आग' की गोहार होती है। देवर द्वार खोलकर भाग जाता है।

इसी बीच विदेशी लौटता है। पहर रात बीत चुकी है और घर के किवाड़ बन्द हैं। किवाड़ खोलने के लिए जब वह पुकारता है तो भयभीत होकर उसकी पत्नी कहती है —

हाय दइव अब केहि गोहरावों, अइले महलिया में चोर,
सइयाँ घरे रहतें तो धइ बान्हि मरतें, केकरा से कहीं करे सोर।
प्रीतम पिउ बिनु प्रान छुटत नाही, हृदय का बहुत कठोर।
त्राहि उमापति—त्राहि उमापति धरम बचावतुं मोर।

इसके बाद बाहर से पति की वाणी सुनाई पड़ती है —

खोलहु धनियाँ रे बजर केवरिया से,
हम हई पियवा तोहार रे बिदेसिया।
नाहीं हम हई रामा ठग बटमरवा से,
नाहीं हम हई डाकू चोर रे बिदेसिया।

वियोगिनी द्वार खोलती है, तो अपने पति को सामने देखकर विस्मय और आनन्द से पुलकित हो उठती है। कितना आकस्मिक मिलन होता है —

प्रेम मग्न मन बहुत होत है, देखि के चरन तुम्हारे।
शोक धार में बहल जात रहीं, खींचि के कइल किनारे।
बहुत दिनन पर दरसन दीहल, हे पति प्राण अधारे।
कहें भिखारी जय गंगाजी, बहुरल सेनुरा हमारे।

इस गीत के साथ ही इस लोकनाट्य का सुखद समापन होता है। भिखारी ठाकुर ने 'बिदेसिया' के इस सामान्य कथानक के अन्तर्गत एक रूपक की भी अवतारणा की है। नाटक प्रारम्भ करने से पहले वे स्वयं सूत्रधार की भूमिका में मंच पर आकर इसके कथानक की मीमांसा करते थे। उनके अनुसार सूरदास के 'भ्रमरगीत' की भाँति 'बिदेसिया' के पात्र गूढार्थ लिये हुए हैं। ये पात्र बिदेसी के रूप में कृष्ण जी, प्यारी के रूप में सुन्दरी राधिका जी, बटोही के रूप में उद्धव जी, बेसवा के रूप में 'कुबरी' है। इन चारों का सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थगौरव इस प्रकार है— बिदेसी—कृष्ण (ब्रह्म), प्यारी सुन्दरी—राधा (जीव), बटोही—ऊधो (धर्म), वेश्या—कुबरी (माया)। डॉ० ऊषा वर्मा ने बिदेसिया के इस रूपक को स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'बिदेसिया' नाटक में भिखारी ठाकुर ने वेश्या को माया की प्रतिमूर्ति माना है। धर्म ब्रह्म से हमारा साक्षात्कार कराता है तथा जीव, माया तथा अन्य इन्द्रियों को वश में रखता है। 'बिदेसिया' में इन आध्यात्मिक भावों को आधुनिक समस्याओं तथा कुरीतियों पर आरोपित कर दिया गया है, जिसमें एक विदेशी परदेश में वेश्या (परस्त्री) के चंगुल में पड़कर अपने परिवार से विमुख हो जाता है। बटोही विदेशी को धर्म का ज्ञान कराकर वापस गाँव में परिवार से मिलाता है।⁸ श्री सुबोध कुमार सिंह ने भी 'बिदेसिया' को एक आध्यात्मिक प्रीति रूपक कहा है।⁹

बेटी—वियोग नाटक

भिखारी ठाकुर के प्रत्येक नाटक समाज के किसी न किसी समस्या को लेकर लिखे गये हैं, किन्तु उनमें समाज सुधार की दृष्टि से 'बेटी—वियोग नाटक' सर्वोत्तम है। दहेज इस समाज का कोढ़ है। इसी कोढ़ के कारण कोई किशोरी साठ वर्ष के वृद्ध के गले लगा दी जाती है। समाज की इसी विडम्बनापूर्ण स्थिति को भिखारी ठाकुर ने अपने इस नाटक में उठाया है। 'चटक' नामक पति तथा 'लोमा' नाम की पत्नी से 'उत्पातो' नाम की लड़की उत्पन्न होती है। निर्धनता में पिसते हुए 'चटक' को दहेज न दे पाने के कारण अपनी युवती कन्या उत्पातों का विवाह बकलोलपुर के एक वृद्ध 'झंटुल' से तय कर देना पड़ता है। गाँव में किसी को यह ज्ञात नहीं होता है। जब दूल्हा के परिचय के लिए स्त्रियाँ पहुँचती हैं, तो दूल्हे की स्थिति देखकर सन्न रह जाती हैं। कवि भिखारी ने दूल्हे के स्वरूप का वर्णन स्त्रियों के परिचय गीत में इस प्रकार किया है —

चलनी के चावल दुलहा, सूप के झटकारल हे,
दिऊँका लागल वर, दुआरे बाजा बाजल हे...
आम लेखा पाकल दुलहा, गाँव के निकालल हे,
अइसन बकलोल वर, चटक देव के भावल हे।

स्त्रियाँ पुनः दूल्हे का दर्शन मंडप में नजदीक से करती हैं और जो बूढ़ा देखती हैं, उसे अपने मीठे स्वर में गीत गाकर व्यक्त करती हैं —

रचलन रूप भगवान दुलहा के,
भोरी में लागल फूल देखि जात भूल,
मुहवाँ में खिलत बाटे पान दुलहा के।
कंठा है असल सोना, केहू मति करिह टोना,
देखला पर छूटत बा परान दुलहा के।
खोजलन चटक बाबू करके बहुत काबू, भइलन बहुत हलकान।
आइल बरात गाँव दुनिया में भइलन नाँव, बर बूढ़ कनियाँ जवान।

झंटुल दुलहा अपनी पत्नी के लिए भी नथिया, बुलाक, बेसर, झुलनी, माँग टीका, कनफूल, झुमका आदि आभूषण ले आता है। माता लोमा इन आभूषणों को देखकर प्रसन्न होती हैं, पर जब वृद्ध दूल्हे की ओर देखती है, तो दुखी होकर अपने पति की भर्त्सना करते हुए कहती है —

तोहरा आँख में परल धूर, कइल बुढ़वा वर मँजूर।
कहें भिखारी लालच कइलऽ, लोक—बेद के इज्जत खइलऽ।

लोमा का सहारा पाकर उत्पातो के धैर्य का बाँध टूट जाता है। वह अत्यधिक वेग से बिलखने लगती है —

हाय पिता हा मइया मोरी, भइया तोहरा गोड़ के चेरी,
हाय भउजी सब सखी सयानी, हमसे काह भइल नुकसानी,
हाय गाँव के कुल परिवारा, काहें धसोरत बिचहीं धारा,
आफत में केहु काम न आवत, केहू ना बाबू के समझावत,
एह धरी सब होख सहाई, विदा करेपावे जनि माई।

उत्पातो फिर भी उस झंटुल दुल्हे के साथ ससुराल चली जाती है, किन्तु शीघ्र ही रूठकर अपनी माँ के घर आ जाती है। इसके बाद बेटी अपने प्रेतरूपी पिता से दुखों का निवेदन करने बैठती हैं। उस विकट विलाप को सुनकर पत्थर भी पिघल सकता है। उत्पातो अपने हृदय की वेदना व्यक्त करती हुई कहती है —

मुँहवां में दाँत नाहीं, भात चूवे गाल माहीं,
बवला पर भीतरी समुन्दर हो बाबू जी।

पति कर देखि गति, पागल भइल मति,
 रोइ—रोइ करीला बिहान मोर बाबू जी।
 हुकुर—हुकुर छाती करत बाटे दिन—राती,
 अध जीव दुलहा पसन कइल बाबू जी।
 घरी—घरी होत झरी, कफ से भरत बा नरी,
 नरक विगत दिना बीति मोर बाबू जी।
 पति के बुढाई देखि, मन के गइल लेखी,
 धनवाँ भइल कलपनवाँ हो बाबू जी।
 रोवत बानी सिर धुनि, इहे छछनल सुनि,
 बेटी मत बेचे दीहऽ केहू के हो बाबू जी।

निर्दय बाप इस पर उत्तर ही क्या देता। वह तो उसे रामचरित मानस में वर्णित पति—धर्म सुना रहा है। उसके उपदेश की प्रतिक्रिया में युवा उत्पातो अपने मन के कसक को आखिर व्यक्त ही करती है —

छछनल जियरा बाबू मोर,
 रस के बस मतवाला भइल मन, चढल जवानी जोर।। छछनल...
 दिन—रात कबो कल ना परत बा, गुनत—गुनत होत भोर। छछनल...
 बाल—वृद्ध एक संग कइ दिहल, पथल के छाती बाटे तोर। छछनल...
 कहत भिखारी जवानी काल बा, मदन देत झकझोर। छछनल...

इस नाटक के जितने पात्र तथा स्थान हैं, उनके नाम प्रतीकात्मक हैं। 'चटक' नाम का पति चट से विवाह तय कर लेता है, 'लोमा' नामक माँ रूपये पर लुब्ध हो जाती है। उत्पातो के जीवन में सुख नहीं लिखा है और जब गाँव का नाम ही बकलोलपुर है तो झंटुल दूल्हे की क्या स्थिति होगी? करुण रस से भरा यह नाटक सामाजिक कुरीतियों पर कसकर प्रहार करता है। भिखारी ठाकुर के इस नाटक की कथावस्तु के आधार पर भोजपुरी में अनेक नाटकों की रचनाये हुईं। विन्देश्वरी प्रसाद पाठक और गिरिजादत्त ने 'बेटी—बेचवा' गीतिनाट्य लिखा।

भाई—विरोध नाटक

भिखारी ठाकुर ने परिवार में बढ़ते भ्रातृ विरोध को आधार बनाकर यह नाटक लिखा है। किसी ग्रामीण परिवार में उपकारी, उपदर और उजागर नाम के तीन भाई एक साथ हँसी—खुशी से रहते हैं। ये तीनों पात्र नाटक में अपने नाम के अनुकूल आचरण

करते हैं। उपकारी घोर उपकार करने वाला है, उपदर घोर उपद्रवी है और उजागर के मरने के साथ घर ही उजड़ जाता है।

एक दिन कोई कुटनी इस परिवार में आती है और उपदर की पत्नी के कान भरकर उपकारी से जगह-जमीन बँटवा देती है। उपकारी अपना भाग स्वीकार कर उसी पर संतोष करता है। थोड़े दिन व्यतीत होने के बाद वह कूटनी औरत उल्टा-सीधा समझाकर उपदर की पत्नी को उजागर के मारने की सीख दे जाती है। रात में उसकी पत्नी इस जघन्य कृत्य के लिए उपदर को राय देती है। उपदर शीघ्र सहमत नहीं होता, फिर उपदर सामान्य उपद्रवी है नहीं, नारी के मोहपाश में आकर उजागर की हत्या रात में सोते समय कर देता है।

नाटक में यह दृश्य बड़ा कारुणिक है। इसकी हृदय द्रावकता उस समय फूट पड़ती है, जब भाभी देवर के लिए विलाप करती हुई मंच पर आती है —

हमरा के छोड़ि गइलऽ काल के कलेवा भइलऽ,
भउजी के प्रान के अधार हो देवरऊ।
चुपे-चुपे राही भइल, कुछओ न कहि गइलऽ,
मुदई के मनसा पुरवलऽ देवरऊ।
जनितीं जे अइसन करी, बबुआ के लागी जरी,
ओकरा में रहे हम ना देती हों देवरऊ।
धोती-कुरता टोपी-साफ, केई बन्हिहें लाफकाफ,
केई भउजी कहि के पुकरिहन देवरऊ।

इस प्रकार उपकारी की पत्नी का करुण विलाप दर्शकों के मन को तीर के समान वेध देता है।

भाई वध के कारण उपदर पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाता है। उपकारी अपने उदात्त चरित्र के कारण उपदर की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है, वह स्वयं उपदर के स्थान पर जेल में बन्द होता है तथा अपने हत्यारे भाई की रक्षा करता है।

यद्यपि इस नाटक में भ्रातृ-प्रेम और भ्रातृ-द्रोह दोनों की वास्तविक स्थिति सामने लाई गई है, फिर भी इसका भाभी विलाप का प्रसंग अत्यन्त कारुणिक है। इस नाटक के सम्बन्ध में श्री महेश्वराचार्य की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं— 'भिखारी का 'भाई-विरोध' नाटक भाइयों का विरोध प्रदर्शित करते हुए भी वस्तुतः एक हृदय-द्रावक प्रसंग है, जिसमें भाभी का विलाप चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। अतः इस नाटक को 'भाभी-विलाप'

कहा जाय तो नामकरण यथार्थ हो सकता है।¹⁰ इसमें आदर्श और यथार्थ का अपूर्व मेल हुआ है, जो कारुणिक प्रसंग की योजना द्वारा सुख-दुखान्तक हो उठा है।

विधवा-विलाप नाटक

विधवा-समस्या पर आधारित यह नाटक एक ऐसी विधवा की दुर्दशा का चित्र उपस्थित करता है, जिसके पास जीविका का कोई साधन नहीं है। हमारे समाज में अधिकांश विधवायें अनमेल विवाह के कारण होती हैं। भिखारी ठाकुर ने 'विधवा-विलाप नाटक' में इसी समस्या को उठाया है। इसमें विधवा विलाप के साथ वृद्ध विवाह की बात भी रखी गई है। नाटक की भूमिका में भिखारी ठाकुर लिखते हैं— "हमरा तुच्छ बुद्धि के मुताबिक इस छोटी सी पुस्तक में जो कुछ वृद्ध-विवाह, विधवा विलाप पर लिखा गया है, हम आशा करते हैं कि हमारे भाई लोग इससे लाभ उठावेंगे।" इस कथन से स्पष्ट है कि नाटक का उद्देश्य सामाजिक कुरीति से सचेत करना तथा शिक्षा देना है। 'विधवा-विलाप नाटक', 'बेटी-वियोग नाटक' की अपेक्षा अधिक कारुणिक है। बेटी-वियोग में यदि लड़की को बूढ़े वर का सहारा है तो विधवा-विलाप में वह सहारा भी नहीं है। बेमेल विवाह के चलते युवती शीघ्र ही विधवा हो जाती है। उदवास नामक उसका भतीजा है, जो अलग रहता है किन्तु उसे अपना संरक्षण देता है। भतीजे उदवास की दृष्टि विधवा की धन-सम्पत्ति पर है, इसलिए वह नित्य एक नया बखेड़ा खड़ा करता रहता है। धन लेने के अनेक उपाय रचता है। इस क्रम में वह विधवा के शरीर के सारे आभूषण उतरवा लेता है, फिर भी शांत नहीं होता, जो थोड़ी-सी जमीन बची रहती है, उस पर वह अधिकार कर लेता है। उदवास अपनी पत्नी की राय से उस विधवा से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए उसे तीर्थयात्रा के बहाने एक जंगल में ले जाता है और उसकी हत्या कर देना चाहता है। इस हत्या के लिए उदवास का साथी उपदेश भी सहायक बनता है। उस समय विधवा की आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है। वह दारुण चीत्कार करती हुई अपने भतीजे से निवेदन करती है —

कवन कसूर कईली, घर से निकालल गइली,
छुटल जात बा नइहर ससुरवा हो बबुआ।
पर पति साथ रति कबहूँ ना भइल मती,
धनवाँ करनावाँ तेयाग मति हो बबुआ।
बबुआ समझऽ मन तोहरे हऽ रख धन,
काकी करिहन जुठवा के असरा हो बबुआ।
दिन-रात सुबो-साम घरवा मे करबि काम,

लुगरी फिंचबि हम पतोह के हो बबुआ।
कहत भिखारी नाई विधवा विलाप गाई,
भज रघुराई जीव दान छाड़ि दऽ हो बबुआ।

इन अनुनय-विनय एवं करुण क्रन्दन का उदवास के ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। ऐसी विषम अवस्था में विधवा के सामने और कोई मार्ग नहीं है। वह एकमात्र भगवान का स्मरण करती है —

मरलसि दैया मोर जान पापी निरदइया। टेक।
श्री रघुनाथ अयोध्यावासी, सुनहु भरत के भइया।
फाँस छोड़ा दऽ आस लगल बा, रतत राम कहि गइया।
गऊ, गरीब विधवा गँवार सिर नित दुख बढ़त सवइया।
कहत भिखारी कुतुबपुर के गंगा तट रहवइया।
मरलसि दैया मोर जान पापी निरदइया।

भगवान की स्तुति करते ही —

तेहि अवसर एक साधू आये, दुष्ट दोउ जन चले पराये।

वह साधू विधवा को आश्रम में ले जाता है। विधवा निष्ठापूर्वक भगवान कृष्णचन्द्र की पूजा करती है। पूजा से प्रसन्न हो भगवान कृष्ण साक्षात् दर्शन देते हैं। विधवा भगवान के चरणों पर गिर पड़ती है। साधू लोग परम-विह्वल होकर श्रीकृष्णचन्द्र की आरती उतारते हैं —

मन आरती करिल श्री बैकुण्ठपति की,
शंख चक्र और गदा पद्मधर, पीस वसन चन्दन की।
मोर मुकुट उर माल वंशीधर, हलधर यती सती के। मन० आरती...
सनक सनन्दन भीष्म भगीरथ सुकदेव जगवन्दन को।
सूरदास अत्री अगस्त मुनि, वासी परम गती के। मन० आरती...
श्री उद्धव ठाकुर ग्वाल गण, वासुदेव देवकी नन्दन को।
नाच तजि भजिल हरिश्चन्द्र, टरहु भाव भगवती के। मन० आरती...
प्रेम तेल मनसा कर बाती, आनन्द सुख कन्दन को,
ज्ञान अग्नि से बार 'भिखारी', दिया दिव्य सुमती के।
मन आरती करिल श्री बैकुण्ठपति की।

इस आरती के साथ नाटक का दुखद परिवेश सुखद वातावरण में बदल जाता है और श्री कृष्णचन्द्र की जय-जयकार के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

कलियुग प्रेम नाटक

कलियुग में मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले घृणित आचरण की भर्त्सना करने के लिए भिखारी ठाकुर ने 'कलियुग-प्रेम' नाटक का निर्माण किया था। इस नाटक में एक मद्यप का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। कोई निर्धन सदा शराब के नशे में मदहोश बना रहता है। उसकी पत्नी और पुत्र दोनों दाने-दाने को मोहताज रहते हैं। इस आचरण का विरोध करने पर पत्नी को पति द्वारा शारीरिक यंत्रणा मिलती है। बेचारी पत्नी रो-रोकर किसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करती है -

निसा खा के पिया मोर, निसा खा के पिया मोर।
दिहलन कपार फोर, से परल बानी नसइल के पालवा हो लाल।
इतने दिनन से कहत बानी तोहरा से, कइलऽ ना कान हमरो बात।
पियऊ नसइल बेंचि के कमाई पुरखन के उड़ाई देलऽ अपने भइलऽ लहगा झारि।
सुई डोरा घर में ना, लुगरी फाटे बाटे, लड़का रहत बा उधार पियवा।

यदि पुत्र माता की ओर से बोलता है तो वह भी मार खाता है। पुत्र अपना कसूर पूछता है -

बाबु कइली कवन कसूर, मन कइलऽ बेटा से दूर।
बाबू खेललऽ अइसन खेल, दारू में धन देलऽ ढकेल।

छोटे बालक पर जब वह नशाखोर झपट पड़ता है तो वह भाग कर माँ के आँचल में छिपता है। औरत निवेदन करती है -

बालक अबूझ पर बूझ कइ के माफ कर,
निपट नदान अनजान पियऊ नसइल।
अँचरा पसार भीख माँगत बानी सामी जी से,
बबुआ के करऽ जीव दान पियऊ नसइल।

इस नशाखोर व्यक्ति का एक और लड़का है, जो उसके कृत्यों से भागकर परदेश चला जाता है। सती-साध्वी पत्नी को दूसरे लड़के की बड़ी चिन्ता है -

कवना घर से खरची आई, कइसे लड़का पोसल जाई।

अन्त में शराबी की पत्नी अपने पुत्र के साथ वेश्या के पास जाकर रोते-विलखते हुए प्रार्थना करती है—

राखऽ सरन के पानी ए बहिनी ।
अन बस्तर बिनु माई बेटा के, बीतत बा बहुत हलकानी ।
प्राननाथ के तनि समुझा दऽ, हो जा तूँ अटल भवानी ।
कहत भिखारी जियब हम जबले, रहब चरन लपटानी ।

इस प्रार्थना पर वेश्या निर्ममतापूर्वक टका सा जवाब देती है —

तें का बने अइले हमार दासी ए चोटही,
सोझा से दूर होखु चोटही बैसरमी, नात छोड़इब बदमासी ।

नादान छोटा बच्चा भी वेश्या से प्रार्थना करता है —

बहुत करबि सेवकाई ए माई,
रात-दिन तोहरे चरन में, हरदम रहब लवलाई ।
बाबू के कहिके समुझा दऽ, तोहरे बा सम प्रभुताई ।
कहत भिखारी ठाकुर माफ कर, गिरलीं सरन में आई ।

इस पर वेश्या जरा भी नहीं पसीजती, उल्टे जवाब देती है —

ते का हमार करबे सेवकाई, दे फुहरा,
खुदे तोर बाप अपमान कइ दिहलसि, भागु मुहें करिखा पोताई ।
कहत भिखारी तोरा हाथ के जो पानी पियबे, तुरते उबान्त हो जाई ।

पुत्र जब वेश्या से उपेक्षित हो जाता है तो भगवान और भगवती की पुकार करता है—

त्राहि-त्राहि बउरहऊ भोला, बाबू के लागल विष के गोला ।
त्राहि काली कलकत्ते वाली, मइया एहि जून परलीं खाली ।
गोहाटी परबत के बासी, काट कामच्छा गला के फाँसी ।
देवी अबहीं दरसन दे दऽ, दुख-दलिदर पल में खेदऽ ।

भगवती की प्रार्थना से उन दोनों के भाग्य का उदय होता है। अचानक शराबी का बड़ा लड़का शंकर, जो बाहर भाग गया था, काफी पैसे लेकर अपने घर लौटता है। उसे देखकर छोटा भाई और माँ परम प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार अन्य नाटकों के समान इस नाटक का भी सुखद वातावरण में अन्त होता है।

भिखारी ठाकुर की शैली पर पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार में भोजपुरी के लोकनाटकों की धूम मच गई। इन नाटकों में भी भोजपुरी क्षेत्र की पारिवारिक और सामाजिक समस्याएँ ही मुखर हुई हैं। भोजपुरी क्षेत्र की निर्धनता सर्वविदित है। निर्धनता के कारण थोड़ी-थोड़ी जमीन के लिए अपने सगे-सम्बन्धियों की हत्या कर देना सहज सम्भाव्य है। इन हत्याओं को माध्यम बनाकर भिखारी ठाकुर ने तो कई नाटक लिखे ही थे, अन्य लोकरचयिताओं ने भी इसी ढंग पर नाटक लिखे हैं। इनमें से कुछ प्रमुख लोकनाटकों का परिचय नीचे दिया जा रहा है, जिनका अभिनय बिदेसिया मंच पर छोकरा नाच मण्डलियों द्वारा भोजपुरी क्षेत्र में होता रहा है।

लकाठू का व्याह

वृद्ध विवाह की समस्या पर आधारित इस नाटक को श्री वंशरोपन मिश्र ने ही लिखा है। इसमें एक अस्सी वर्ष का लकाठू नामक वृद्ध व्यक्ति साहु से कर्जा लेकर अपने मित्र घपेलू की राय से उजारनपुर के निचोरन नामक व्यक्ति की नादान कन्या अभागी से विवाह करता है। जिस समय लकाठू का मित्र घपेलू लकाठू से पचास रूपया अग्रिम लेकर विवाह तय कराने निचोरन के यहाँ पहुँचता है और निचोरन अपनी पत्नी से कन्या के बेचने की बात करते हैं। उस समय पति-पत्नी में काफी विवाद होता है। पत्नी निचोरन के इस घृणित कार्य का विरोध करती है –

भाई बन्धु कतनो बुझाई समुझाई के,
कइलस निको न कान बेटी बेचवा।
भीतर आँगनवाँ, दलालवा बुलाई कर,
बेटी के करन लाग मोल बेटी बेचवा।
रूपया हजार के करार जब होइ गइल,
मन गइल हरषाई बेटी बेचवा।
भेजि के हजाम झट पंडित बोलाइ कर,
सुदिन पूछत मन लाई बेटी बेचवा।

निचोरन पंडित जी को बुलाकर एक सौ दक्षिणा देकर अभागो की शादी लकाठू से तय कर देता है। प्रस्तावित वर लकाठू का रूप देखने ही लायक है –

लउकत अजब बा सरूप दुलहा के, जामा पैजामा लाल,
गर्दन में फूल माल, बानर नियर मुहँवा के रूप दुलहा के।
नैनों में काजर लागल, गोड़ में बेवाई फाटल,
बड़ा-बड़ा कान जइसन सूप दुलहा के।

लकाटू की स्थिति ऐसी है कि हजाम उन्हें गोद में उठाकर विवाह के लिए मण्डप में ले जाता है। विवाहोपरान्त अभागो कसाई के हाथ बँधी गाय के समान लकाटू के साथ विदा कर दी जाती है। अभागो ससुराल में कुछ ही दिन रहकर नैहर वापिस भाग आती है और रो-रोकर पूर्वी धुन में अपनी दारुण गाथा पिता से सुनाती है –

अबला अनाथ, कहे चरण पर धरी हाथ,
कवन कसूर हम कइलीं हो बाबूजी।
मुँह में ना एको दाँत, साफ न आवत बात,
बूढ़ वर अइसन खोजल हो बाबूजी।
देह के झुलत चाम, जइसन पाकल आम,
दाम कारन नाम हँसवल हो बाबूजी।

अभागो दारुणिक विलाप करती है। नाटक के अन्त में निचोरन भी पश्चाताप करता है और स्वीकार करता है कि तुम्हारे साथ मैंने विश्वासघात किया है, किन्तु तुम वृद्ध पति की सेवा करो, यही तुम्हारा धर्म है, यही शास्त्र कह रहा है –

सुनि के रोवाई तोर फाटत करेज मोर,
चुप होखु रो मति रे बबुनियाँ।
हमरा नीयर नीच खोजलो पर नाहीं मिली,
छूटत ना बाटे मोर परान रे बबुनियाँ।

नाटककार ने इस नाटक के पात्रों का नामकरण भिखारी ठाकुर के पात्र नामकरण के अनुसार साभिप्राय किया है। लकाटू वार्धक्य की अन्तिम अवस्था में काठ के समान सूख गये हैं, उनके मित्र घपेलू नाम के अनुकूल मूढ़ हैं, निचोरन कन्या का माँस बेचकर रूपया निचोड़ लेने वाले हैं, अभागो तो जीवन भर अभागिनी ही रहने वाली है और निचोरन का गाँव भी उजारनपुर है, जहाँ कन्या बेचने का धन्धा होता है। भोजपुरी क्षेत्र के बलिया और छपरा जिलों में लोक मण्डलियों द्वारा शताधिक बार इस नाटक का मंचन हो चुका है। इस लेखक को इस नाटक को बिदेसिया मण्डली द्वारा अभिनीत होते हुए देखने का अवसर मिल चुका है।

पिता-हत्या नाटक

मुजफ्फरपुर जिला के श्री राम अयोध्या राय ने भोजपुरी क्षेत्र की समस्याओं को लेकर भोजपुरी में कई प्रमुख नाटक लिखे हैं, जिनमें पिता-हत्या नाटक पर्याप्त लोकप्रिय है तथा अनेक बार अभिनीत भी हो चुका है।

गुनेश्वर नामक एक जमींदार है, जिसका पुत्र महेश्वर है, जो शौकीन स्वभाव का है। एक दिन बाजार में भोजन करते समय उसका दीदार एक वेश्या से हो जाता है, जिसके यहाँ अपनी हर शाम वह गुजारने लगता है। उसकी इस स्थिति को देखकर माता-पिता उसकी शादी श्यामवती नामक एक सुन्दरी कन्या से कर देते हैं, ताकि पत्नी के प्रेम में वह वेश्या के यहाँ जाना छोड़ दे। वेश्या जब महेश्वर के विवाह की बात सुनती है तो मुँह फुला लेती है। महेश्वर के बहुत मनावन करने पर वह शर्त रखती है कि वह अपनी पत्नी का जेवर और साड़ी हमारे हवाले कर दे। वेश्यानुरक्त महेश्वर अपनी विवाहिता पत्नी को मारपीट कर सारा जेवर छीन लेता है तथा उसे रंडी को सौंप देता है। इधर महेश्वर के पिता को इस घटना की जानकारी होती है, तो उस रंडी के पास पहुँचकर उसे धमकाता है। महेश्वर के पिता की धमकी से घबड़ाकर रंडी बेहोश हो जाती है। रंडी को बेहोशी हालत में देख महेश्वर का खून खौल जाता है और वह पिस्तौल से अपने पिता की हत्या कर देता है। वेश्या भाग जाती है और दारोगा जी महेश्वर को गिरफ्तार कर लेते हैं। विवाहिता श्यामवती अपने पास से 100 रुपये दारोगा जी को रिश्वत देकर महेश्वर को छुड़ा लेती है। इस पर भी महेश्वर अपना सारा सामान लाद कर वेश्या के यहाँ चला जाना चाहता है। पत्नी रोकती है, इस पर महेश्वर उसे हंटर से मारकर तथा सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति लेकर वेश्या के पास पहुँचता है और उधर श्यामवती चरखा कातकर किसी प्रकार अपना गुजर-बसर करती है। कुछ दिन बाद महेश्वर को अपने कुकर्म के कारण कोढ़ हो जाता है, शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है तो रंडी एक कुली से उसे उठवाकर श्यामवती के घर के सामने फेंकवा देती है। श्यामवती पति को कंधे पर लेकर जंगल की ओर जाती है। वहाँ रास्ते में एक साधु का कमण्डल उसके पैरों से टकरा जाता है। साधु क्रुद्ध होकर शाप देता है कि प्रातः होते ही उसका पति मर जाएगा। पतिव्रता श्यामवती अपने पातिव्रत के बल से सवेरा ही नहीं होने दे रही है। सारी सृष्टि में त्राहि-त्राहि मच जाती है। अन्त में भगवान विष्णु आकर उसको दर्शन देते हैं तथा उसके पति की पुरानी काया लौट आती है। उसको अपनी डूबी सम्पत्ति भी मिल जाती है। अन्त में महेश्वर भी अपनी गलती स्वीकार करके पत्नी से क्षमा मांगता है।

दामाद-वध नाटक

श्री चन्द्रेश्वर भारती ने एक सत्य घटना के आधार पर इस नाटक की रचना की है, जिसके सभी पात्र कल्पित हैं। शंकर नाम का एक ग्वाला काफी धन कमाकर के बंगाल से अपने घर लौटते समय गाड़ी में विलम्ब हो जाने के कारण घर के रास्ते में पड़ने वाली अपनी ससुराल में रात बिताने के लिए जाता है। रास्ते में लूटन नाम का डाकू

उसका सारा धन और शरीर पर का कपड़ा अपने तीन साथियों के साथ लूट लेता है। शंकर लूटन का दामाद है, किन्तु रात होने के कारण लूटन अपने दामाद को पहचान नहीं पाता है। शंकर फटेहाल अपनी ससुराल पहुँचता है। उसकी साली उसे इस दशा में देखकर अचंभित हो जाती है, फिर शंकर को घर में से धोती—कमीज लाकर पहनने को देती है। वह धोती—कमीज शंकर की ही है, जिसे लूटन ने रास्ते में लूट लिया है। इस लूट के सामान में घड़ी और फाउण्टेन पेन डाकुओं ने दारोगा को रिश्वत में दे दिया है। दूसरे दिन शंकर को उदास देखकर उसका साला गोविन्द उदासी का कारण पूछता है। शंकर रात की घटना का विवरण बता देता है। फलतः गोविन्द को यह पता चल जाता है कि जिस धोती और कमीज को उन्होंने रात में लूटा है, वही उसने पहना भी है। तब गोविन्द अपने भाइयों के साथ पिता लूटन के पास जाकर राय करता है कि लूट का माल तो हमारे बहनोई का है, किन्तु अब तो माल को वापिस नहीं किया जा सकता, कुछ सामान दारोगा जी को भी दे दिया है। शंकर को इसका रहस्य मालूम हो जाता है। घोर बेइज्जती से बचने के लिए शंकर को मारकर सारी घटना पर पर्दा डालने का निश्चय किया जाता है। शंकर की साली फूलमती इस बात को सुन लेती है और धीरे से शंकर को बता देती है। शंकर भाग कर थाने में पहुँचता है और दारोगा जी से अपनी सुरक्षा के लिए निवेदन करता है, किन्तु वह देखता है कि दारोगा जी उसी की घड़ी कलाई में बाँधे हुए हैं तथा उसी की कलम से रिपोर्ट लिखने बैठे हैं। दारोगा इस बात को भाँप जाता है और उल्टे उसी को चोर बनाकर थाने में बन्द कर देता है, फिर चौकीदार से लूटन तथा उसके लड़कों को बुलवाकर शंकर की हत्या का उपक्रम करता है, इधर शंकर की पत्नी तुरन्त पुलिस के बड़े अधिकारी के यहाँ पहुँचती है तथा बताती है कि आज उसके पति की हत्या थाने में होने वाली है। बड़े साहब तुरन्त अपनी गाड़ी से थाने के लिए प्रस्थान करते हैं। रास्ते में शंकर के साले गोविन्द से मुलाकात होती है, जो शंकर की लाश को बोरे में बन्द कर एक बन्द बैलगाड़ी पर रखकर नदी की ओर ले जा रहा है। शंकर की पत्नी बड़े साहब से उस गाड़ी की जाँच करने का अनुरोध करती है। बड़े साहब की जाँच पर गाड़ी में मरणासन्न शंकर बोरे में बन्द मिलता है, तुरन्त उसे अस्पताल पहुँचाया जाता है तथा गोविन्द, लूटन तथा थाने के कर्मचारी गिरफ्तार कर लिये जाते हैं। मामला अदालत में चलता है, जिसमें अपराधियों को आजीवन कारावास की सजा होती है तथा शंकर डॉक्टरों के अथक प्रयास के बाद बचा लिया जाता है।

सफेड़ा नाच मण्डली

पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी भाषा—भाषी दो जनपदों बस्ती और गोरखपुर में इस

नाच का प्रचार आज से पचास—साठ वर्ष पूर्व जोरों पर रहा है। देवरिया को छोड़कर भोजपुरी क्षेत्र के अन्य जनपदों में तो इस नाच का लोग नाम तक नहीं जानते हैं। गोरखपुर में तो अब यह नाच लगभग समाप्तप्राय है, किन्तु बस्ती जनपद में उस्ताद शेर अली के शिष्यों द्वारा आज भी यह परम्परा जीवित रूप में है। लोकनाट्य के इस विधा की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए बस्ती जनपद के घनघटा थाने के अन्तर्गत आने वाले शिवापार गाँव के उस्ताद शेर अली से सम्पर्क किया जा सकता है। उस्ताद शेर अली आज से लगभग पचास—साठ वर्ष पूर्व बस्ती जनपद में इस नाच के अत्यन्त लोकप्रिय लोक—कलाकार रहे हैं। बताया जाता है कि छपरा के भिखारी ठाकुर को जितनी ख्याति बिदेसिया लोकमंच के लिए मिली, उससे कम ख्याति शेर अली को सफेड़ा नाच के लिए नहीं मिली। आज शेर अली की अवस्था सत्तासी वर्ष है। तत्कालीन समय में वे इस नाच के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी के जीवित कोश हैं।

शेर अली के कथनानुसार इस नाच का प्रचार बस्ती में गोंडा से हुआ। गोंडा में शादी—विवाह के अवसर पर लखनऊ और बाराबंकी से 'सफेड़ा नाच' की मण्डलियाँ अपना प्रदर्शन दिखाने आती थीं। बस्ती में सर्वप्रथम मेहदावल के पास ननदौर ग्राम में एक बारात के मनोरंजन के लिए उस्ताद इमदाद खाँ के द्वारा इस नाच का प्रदर्शन हुआ था। उस्ताद इमदाद खाँ के प्रदर्शन से जनता अत्यन्त प्रभावित हुई। इसके पूर्व इस क्षेत्र में लोकमंच पर गोंड़ऊ नाच का ही प्रचार था। सफेड़ा नाच की नवीन अभिनय पद्धति से क्षेत्रीय जनता की रुचि देखकर उस्ताद शेर अली ने भी सफेड़ा नाच मण्डली स्थापित की, जो धीरे—धीरे लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचती हुई समूचे बस्ती और गोरखपुर में धूम मचाने लगी। इन पंक्तियों के लेखक ने जब उस्ताद शेर अली से इस नाच की प्रदर्शन विधि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाही तो वृद्धावस्था के बावजूद उस्ताद के शरीर में एक आकर्षक हरकत उत्पन्न हो गई। उन्होंने बताया कि सफेड़े के प्रारम्भ में देवी की जोति होती थी और उनकी पूजा की जाती थी। देवी को पूजते समय दो गायन होते थे। पहले के प्रारम्भ में गाया जाता था —

*सदा भवानी दाहिने, सन्मुख रहे गणेश।
पाँचों मिलि रक्षा करें, ब्रह्म, विष्णु, महेश।*

दूसरा गीत था —

सारद माता तुम बड़ी, सभी संत सेवा करें घट के परदे खोल।

शेर अली ने यह भी बताया कि इस नाच के प्रदर्शन के समय न तो चौकियों की

आवश्यकता पड़ती है, न विशेष तड़क-भड़क वाले पदों की ही। शामियाने के अन्दर जमीन पर या जाजिम पर एक-दो पदों की सहायता से ही इस नाच का प्रदर्शन हो जाता है। इसमें तबला, सारंगी, ढोलक, हारमोनियम तथा मजीरे आदि वाद्यों का प्रयोग होता है। प्रदर्शन में कार्य करने वाले कलाकारों की संख्या 12 से 16 तक होती है, जिसमें तीन या चार किशोरवय लड़के नर्तकों का काम करते हैं। इस नाच मण्डली के द्वारा प्रदर्शित खेलों में 'नागर-मोती', 'छोटा जंगल', 'बड़ा जंगल' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। मुख्य खेल के बीच में जोगी, शराबी और बरेठा-बरेठिन आदि के छोटे-छोटे प्रहसन प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनकी भाषा भोजपुरी होती है।

इस नाच मण्डली का नाम सफेड़ा मण्डली कैसे पड़ा, यह प्रश्न विचारणीय है, साथ ही यह भी विचारणीय है कि इस नाच का उद्भव कहाँ से हुआ। सफेड़ा नाच को लोकनाट्य सांगीत की प्रणाली विशेष मानते हुए श्री रामनारायण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'सांगीत- एक परम्परा' में विस्तार से विचार किया है। श्री रामनारायण अग्रवाल के अनुसार, 'अब से लगभग 50-60 वर्ष पूर्व तक इन सफेड़ों की पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में विशेष धूम थी। शाहजहाँपुर, लखनऊ तथा कानपुर तो इन सफेड़ों के प्रधान केन्द्र थे। सफेड़ों की इस कथा का नायक 'नागर' नामक एक सपेरा था, इसलिए अमानत की इन्दर सभा के अनुकरण पर लखनऊ में लोकप्रिय यह 'सांग सफेड़ा' बाद में नागर सभा के नाम से भी प्रसिद्ध हो गया था।'¹¹ श्री अग्रवाल जी का यह भी कथन है कि इस नाट्य विधा का प्रचलन अमरोहा की एक स्वांग नायिका से हुआ, जो बाद में 'सांग-सफेड़ा' कहलाया। ध्यान देने की बात यह है कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सांगीत की यह शैली किस रूप में पूर्वी उत्तर-प्रदेश के भोजपुरी भाषी क्षेत्र में पहुँची तथा किस प्रकार लोकप्रियता अर्जित की। जहाँ तक पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के सपेड़ा का पूर्वी क्षेत्र में सफेड़ा नाच होने की बात है, वह स्पष्ट है। 'प' के स्थान पर 'फ' का उच्चारण करना भोजपुरी के कुछ क्षेत्रों की विशेषता है। बलिया जनपद में पेड़ को 'फेड़' उच्चरित किया ही जाता है। इस आधार पर पश्चिमी क्षेत्र का सपेड़ा भोजपुरी में सफेड़ा हो जाना स्वाभाविक है। भोजपुरी क्षेत्र में लगभग लोकनाट्य की सम्पूर्ण विधाओं के लिए नाच शब्द प्रयोग में आता है, इसलिए इस विधा का नाम सफेड़ा नाच हो गया। सफेड़ा नाच की एक ही कथा को विभिन्न रचनाकारों ने थोड़े-थोड़े अन्तर से प्रस्तुत किया है, जिसमें कामरू देश के नागर नामक एक सपेरे की प्रणय कहानी वर्णित है, इसलिए इस नाच का नाम सपेड़ा सांग या सफेड़ा नाच पड़ा। उस्ताद शेर अली के अनुसार बस्ती में इस नाच का प्रचार गोंडा से हुआ था और गोंडा में भी लखनऊ तथा बाराबंकी की मण्डलियाँ अपना प्रदर्शन दिखाने आती थीं। श्री रामनारायण अग्रवाल ने भी इंगित किया है कि

लखनऊ, शाहजहाँपुर तथा कानपुर में सफेड़ा सांग की बड़ी धूम आज से पचास—साठ वर्ष पूर्व थी। इससे स्पष्ट है कि लखनऊ की सफेड़ा मण्डली गोंडा में अपना प्रदर्शन दिखाकर पास के भोजपुरी क्षेत्र के बस्ती जनपद में अपनी छाप छोड़ दी। उस्ताद शेर अली ने इसी प्रभाव में इस मण्डली की रचना की, जिसका प्रसार बस्ती से बाहर गोरखपुर तथा देवरिया तक हो गया। चूँकि इसी समय देवरिया के आगे छपरा तथा समूचे पश्चिमी बिहार के भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में भिखारी ठाकुर बिदेसिया मण्डली द्वारा लोकमानस पर छाये हुए थे, इसलिए सफेड़ा नाच का प्रचार देवरिया से आगे न हो सका। यहाँ तक की पश्चिमी बिहार के भोजपुरी क्षेत्रों में तो यह नाम अनजाना है।

सफेड़ा नाच में प्रदर्शित होने वाले 'नागर—मोती' के खेल में कामरू देश का मंत्र—तंत्र और जादू जानने वाला नागर एक सपेरा मंतरगढ़ (बंगाल) की एक जादूगरनी के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए मंतरगढ़ चल देता है। नागर की पत्नी सुन्दर अपने पति को हर प्रकार से रोकना चाहती है, किन्तु नागर पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और वह मोती के पास पहुँच जाता है। नागर और मोती में जादू की लड़ाई होती है, जिसमें मोती के एक नाग द्वारा डँस लिये जाने से नागर मृत्यु को प्राप्त करता है। इधर नागर की पत्नी सुन्दर स्वप्न में अपने पति को मृत देखती है तो जोगिन का वेश धारण करके मंतरगढ़ पहुँचती है और जादू के जोर से मोती को मारकर अपने पति को जिला देती है, परन्तु नागर बिना मोती के जीवित रहना स्वीकार नहीं करता है, इसलिए सुन्दर मोती को भी जिला देती है और तब नागर दोनों के साथ प्रसन्न मन से कामरू देश को लौट आता है। यहाँ गुरु गोविन्द सिंह नाम के किसी व्यक्ति द्वारा लिखे गये नागर—मोती सफेड़े की कुछ पंक्तियाँ नमूने के रूप में दी जा रही हैं। यह प्रसंग उस समय का है, जब सपेरा नागर मोती पर आसक्त होकर कामरू देश जाने को तैयार होता है और उसकी पत्नी सुन्दर उसे रोकती है —

जवाब सुन्दर का —

कहती हूँ समझाय के कहना मेरा मान।
 दाना है तूँ वाघ रे, क्यों बनता नादान।।
 क्यों बनता नादान, मान ले इतनी बात हमारी।
 हाथ नहीं मोती आवेगी, जावे जान तुम्हारी।।
 और के कहने पर भूले हो, मति तेरी बौरानी।
 गुरु गोविन्द की मान, सपेरा करता है नादानी।।

सवाल नागर का —

क्यों भुलाती तूँ मुझे बातों में हर बार।
जाने तूँ देती नहीं, करती है तकरार॥
करती है तकरार, न मानूँ कहना तेरा।
मोती को देखूँगा जाकर, चाहता है जी मेरा॥
देश बंगाले से मोती को जब ही लाऊँ।
गुरु गोविन्द को फेर न अपना मुँह तुझको दिखलाऊँ॥

यह सवाल—जवाब काफी देर तक चलता रहता है, जिसमें लोकवार्ता तत्त्व पर्याप्त रूप में उभरकर सामने आते हैं और दर्शक प्रदर्शन देखकर भाव—विभोर हो उठते हैं।

सफेड़ा नाच एक प्रकार से नौटंकी मण्डली तथा बिदेसिया मण्डली का मिला—जुला रूप है। इसमें नौटंकी के ढंग का तर्ज, नृत्य तथा वाद्य यंत्र और उर्दू मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग होता है तो दूसरी ओर बिदेसिया के समान इसमें मंच के लिए चौकियों की आवश्यकता नहीं होती और न अनेक प्रकार के पर्दों का ही प्रयोग होता है। बिदेसिया के तर्ज के समान यहाँ भी कई प्रकार के गीत गाये जाते हैं। हाँ, बिदेसिया मंच से इसमें एक भिन्नता मंच पर स्थान परिवर्तन दिखाने की है। बिदेसिया में जहाँ स्थान परिवर्तन को समाजी लोग धुन विशेष में गाकर व्यंजित कर देते हैं और दो कदम चलने पर बटोही रंगून पहुँच जाता है, इसमें स्थिति दूसरी है। यहाँ नायक स्वयं अपने मंतरगढ़ पहुँचने की सूचना देता है —

बंगाले के वासियों, सदा रहो भरपूर।
मंतरगढ़ मोती बसे, सो कितनी है दूर॥

नायक के यह कहते ही दर्शकों द्वारा यह समझ लिया जाता है कि नागर मंतरगढ़ पहुँच गया है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लोकनाट्य की इस विधा को भोजपुरी लोकमंच के अन्तर्गत किस रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह सत्य है कि सफेड़ा नाच की जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध हैं, यथा — परीवक्स का सफेड़ा, जीवन सिंह का सफेड़ा, गोविन्द सिंह का सफेड़ा, सबके सब उर्दू मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी में हैं और उनमें भोजपुरी के शब्द कहीं भी नहीं हैं, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश से निकली यह नाट्य विधा भोजपुरी के कुछ भागों में लोकप्रियता के चरमोत्कर्ष पर पहुँची, इसलिए इसे भी भोजपुरी लोकधर्मी नाट्य की परिधि में रखा

जा सकता है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, सफेड़ा नाच के मुख्य कथा के बीच में जब भी कोई प्रहसनात्मक दृश्य उपस्थित होता है, तो वह स्थानीय बोली भोजपुरी में ही होता है। ये हास्यपूर्ण नकलें कभी-कभी कथा के साथ-साथ भी चलती रहती हैं। इन हास्यपूर्ण प्रदर्शनों में जनता अधिक रुचि लेती है। दूसरी चीज गोविन्द सिंह के नागर-मोती कथा को भोजपुरी के लोक-कलाकार अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जिसमें ठेठ भोजपुरी का रूप तो नहीं, किन्तु कुछ मिला-जुला रूप आ ही जाता है। 'छोटा जंगल, बड़ा जंगल' सफेड़ा स्वांग को मैंने एक बारात में अभिनीत होते देखा है, जिसके प्रदर्शन में भोजपुरी का पुट पर्याप्त देखने को मिला, इसलिए इस लोकनाट्य को भी मैंने भोजपुरी लोकमंच के अन्तर्गत सन्निहित कर लिया है।

भाँड़ मण्डली

भाँड़ मण्डली आधुनिक काल में एक अत्यन्त सामान्य कोटि के नाटकीय मनोरंजन का साधन रह गया है, जिसमें दस-पाँच पेशेवर लोक बे-सिर-पैर की बातें करते हुए हो-हल्ला मचाते हैं, कल्पना का घोड़ा कुदाते हैं तथा नकल भी दिखाते हैं। 'भाँड़' शब्द उक्त नाटकीय नृत्य प्रदर्शन एवं उसके कलाकार दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। नाच के रूप में यह हास्य प्रधान एवं अश्लील पद्यों, कथोपकथनों अथवा एकालापों की प्रस्तुति विशेष है, जिसमें स्वच्छन्द तथा असम्बद्ध व्यंग्य-विधान का नाटकीय प्रदर्शन भी सम्मिलित रहता है। इसे भोजपुरी के जातीय नृत्य-नाट्य 'गोंडऊ नाच' नाच का कुछ विकसित रूप मान सकते हैं। भोजपुरी क्षेत्र की बारातों में भाँड़ का नाच ले जाना सम्मान की बात मानी जाती रही है। कुछ सम्पन्न लोग यदि रंडी का नाच ले जाते हैं तो उसका जोड़ बिठाने के लिए भाँड़ का नाच भी अवश्य ले जाते हैं। इस नाच का प्रचलन भोजपुरी के वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, भोजपुर तथा आरा जिलों में अपेक्षाकृत अधिक है।

भोजपुरी क्षेत्र में अपना प्रदर्शन दिखाने वाली भाँड़ों के नाच का सम्बन्ध संस्कृत 'भाण' से जोड़ा जाता है। भाण रूपक का एक भेद है, जिसे क्रीथ ने जननाट्य कोटि में स्वीकार किया है।¹² दशरूपकार ने भाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि भाण वह रूपक है, जहाँ कोई अत्यधिक चतुर तथा बुद्धिमान (पंडित), विट (एक कला पारंगत व्यक्ति) अपने द्वारा अनुभूत धूर्त चरित्र का वर्णन करे।¹³ संस्कृत साहित्य में आठवीं शती से सत्रहवीं शताब्दी तक भाणों के कई उदाहरण मिलते हैं, जिसमें कवि सामाजिक कुरीतियों पर एक गहरा व्यंग्य प्रस्तुत करता है। प्रश्न यह है कि संस्कृत का भाण लोकजीवन में किस प्रकार से भाँड़ के रूप में विकसित हुआ। संस्कृत साहित्य में जिन भाँड़ रूपकों का उदाहरण मिलता है, उनमें मुख्य अभिनेता धूर्त चरित्र वाला होता है तथा

अनेक प्रकार के रूप धरने तथा नकल उतारने की कला में प्रवीण होता है। 'आइने अकबरी' से इस बात की पुष्टि होती है कि अकबर के राज्य काल में हास-परिहास तथा मनोविनोद की भावना से ओतप्रोत जन-मनोरंजन का एक साधन ब्रज के मन्दिरों में होता था, जिसे भगत कहते थे।¹⁴ औरंगजेब के समय में मन्दिरों का वैभव समाप्त हो जाने पर ये भगतिये व्यावसायिक मण्डली बनाकर इधर-उधर गये और लोकजीवन में विभिन्न पात्रों की नकल बनाकर अपना पेट पालने लगे। मौलाना मोहम्मद अकरम गनीमत के ग्रन्थ 'नौरंगे इश्क' में ऐसे ही नक्कालों का वर्णन हुआ है।¹⁵ विभिन्न प्रकार के नकल प्रस्तुत करने के कारण इन भगतियों को संस्कृत में भाण के धूर्त चरित्र की तुलना पर भाँड़ कहा जाने लगा। इस परिप्रेक्ष्य में श्री रामनारायण अग्रवाल द्वारा लखनऊ के एक वयोवृद्ध भाँड़ से किये गये साक्षात्कार का उल्लेख करना असंगत न होगा। श्री अग्रवाल ने लिखा है— "हमने लखनऊ में भारत के वयोवृद्ध भाँड़ श्री राहतजान से भेंट की थी। श्री राहतजान उस समय लगभग 93 वर्ष के थे। नकल परम्परा का उनसे पुराना गुणी और उस्ताद अब कोई जीवित नहीं है। जब हमने उनसे पूछा कि नकल की परम्परा आपकी जानकारी में कब से प्रारम्भ हुई तो उन्होंने इसका प्रारम्भ औरंगजेब के समय से ही बताया। उनका कहना था कि 'लखनऊ में नक्काली का केन्द्र बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के समय से शुरू हुआ और मेरे परदादा उनके यहाँ प्रमुख नक्काल थे।' जब मैंने उनसे पूछा कि 'क्या आप नक्काल हैं?' तो वे भड़क उठे और बोले— 'जी नहीं, मैं जात से नक्काल नहीं भाँड़ हूँ। नक्काली करना मेरा पेशा है।'¹⁶

इससे स्पष्ट है कि भाँड़ की परम्परा औरंगजेब के समय से प्रारम्भ हुई। यह परम्परा फैलते-फैलते लखनऊ से बनारस तक अपनी समृद्धि प्राप्त कर ली। डॉ० महमूद हसन रिजवी ने वाजिद अली शाह के रहस्रखाने की स्थापना के पूर्व लखनऊ में ड्रामा की झलक देने वाली जिन तीन नाट्य विधाओं का उल्लेख किया है, उनमें एक भाड़ों की नकल भी है।¹⁷ हो सकता है कि लखनऊ में भाँड़ कालान्तर में एक जाति के रूप में परिवर्तित हो गये हों, क्योंकि भगतबाज बनकर उनकी रोटी चल नहीं सकती थी और औरंगजेब के शासनकाल में धर्म परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहा था।

यद्यपि प्रारम्भिक काल में ये भाँड़ मण्डलियाँ बनाकर प्रदर्शन नहीं दिखाते थे। ये लोग पहले संगीत सभाओं या लम्बे नाट्य-प्रदर्शनों के बीच दर्शक की एकरसता को अपने हास्यास्पद प्रदर्शनों द्वारा दूर करने का काम करते थे। धीरे-धीरे इन लोगों ने अपनी नाटक मण्डली भी बना ली और अब भोजपुरी क्षेत्र में सैकड़ों भाँड़ मण्डलियाँ तैयार हो गई हैं, जो नाटक भी प्रदर्शित करती हैं तथा अपने हास्य-व्यंग्यपूर्ण प्रदर्शन भी दिखाती हैं। इन मण्डलियों में कार्य करने वाले लोक-कलाकार प्रत्येक जाति के लोग

हैं, इसलिए भाँड़ मण्डली भोजपुरी क्षेत्र में किसी जाति विशेष से बद्ध न होकर प्रदर्शन की एक विशेष पद्धति से चल रही है, किन्तु भोजपुरी क्षेत्र से बाहर लखनऊ, दिल्ली, कन्नौज, मनकापुर तथा भोजपुरी क्षेत्र के बनारस में भी भाँड़ों के परिवार हैं, भँड़ैती करना इनका व्यवसाय है। इन जगहों पर ये मुंडन, छेदन, विवाह आदि अवसरों पर लोगों के घरों में पहुँच जाते हैं तथा नाना प्रकार के लघु प्रहसनों का प्रदर्शन कर दर्शकों का मन मोह लेते हैं।

भाँड़ मण्डली भी नौटंकी मण्डली के ही समान अपना प्रदर्शन दिखाती है। नौटंकी मण्डली के ही समान इस मण्डली में भी कलाकारों की संख्या 10 से लेकर 16 तक होती है, किन्तु कई अर्थों में यह मण्डली नौटंकी मण्डली से भिन्न है। जैसे नौटंकी मण्डलियों में नर्तकियाँ भी अभिनय करती हैं। नौटंकी मण्डली में मुख्य वाद्य नक्कारा होता है, जिसकी आवाज मीलों दूर तक गूँजती है, किन्तु भाँड़ मण्डली में ढोलक और हारमोनियम मुख्य वाद्य होता है। नौटंकी मण्डली जहाँ अपना प्रदर्शन मंगलाचरण से शुरू करती है, भाँड़ मण्डली अपना प्रदर्शन 'घोड़ा छोड़ना' से शुरू करती है।

इस मण्डली के द्वारा मुख्य नाटक शुरू करने के पहले आरती होती है, बीच में कृष्ण की मूर्ति रख दी जाती है तथा एक ओर पुरुष पात्र और दूसरी ओर नर्तक खड़े हो जाते हैं, धीरे-धीरे पर्दा उठता है और आरती के बोल सुनाई देते हैं –

दाता हो तुम मेरी नैया पार लगा दो।
हे प्रभो ! इस जग में फिर से कब लोगे अवतार।
दुनिया ने अंधेर मचाया, हर प्राणी में पाप समाया।
ऐसा पापाचार प्रभो तुम कब लोगे अवतार।
आवो आवो अपनाओ, गीता गावो मुरली बजाओ।
तब हो बेड़ा पार, प्रभो तुम कब लोगे अवतार।
दाता हो तुम मेरी नैया पार लगा दो।

आरती के बाद सभी कलाकार दर्शकों के सामने से चले जाते हैं और भाँड़ों का एक समूह चूड़ीदार पायजामा, शेरवानी पहने कमर में फेटा बाँधे, सिर पर पगड़ी धारण किये 'सरकार की गद्दी आबाद रहे' आशीर्वादात्मक वचन बोलते हुए एक साथ मंच पर प्रवेश करते हैं। इस समय मंच पर आने के साथ ही भँड़ैती का एक रूढ़ प्रदर्शन आरम्भ करते हैं, जिसे 'घोड़ा छोड़ना' कहते हैं। दल का प्रत्येक सदस्य अपने घोड़े के विषय में अलग-अलग लतीफे याद रखता है। ये लतीफे पद्यात्मक ढंग के होते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी एक टेक से रहता है। प्रारम्भ में ताली बजा-बजाकर सबके सब

उसे एक साथ गाते हैं, फिर बारी-बारी से अपने लतीफे सुनाते हैं। सुनाते समय प्रत्येक भाँड़ अपने दल से कुछ आगे बढ़कर अपने घोड़े की चाल बताता है और कभी-कभी घोड़े की आवाज भी निकालता है। भाँड़ों द्वारा घोड़ा छोड़ने की शब्दावली इस रूप में प्रकट होती है –

पहला भाँड़ कहता है –

मेरा घोड़ा है बछेड़ा दिनों में चार साल का।
जनाब न पूछिये मेरे घोड़े की हाल।

अन्तिम शब्द हाल का उच्चारण समवेत रूप से सभी भाँड़ एक साथ करते हैं।

दूसरा भाँड़ आता है और आगे बढ़कर कहता है –

मेरा घोड़ा है आला, जिसको हमने बहुत दिनों से है पाला।
क्या कहूँ वर्णन घोड़े का खास सुखडेहरा से निकाला।

तीसरा भाँड़ आता है और घोड़े की आवाज नाक से निकालते हुए कहना शुरू करता है –

मेरा घोड़ा मिसाले रेल है,
घूरभारी भाँड़ का हमेशा यही खेल है।

जिस समय उनके घोड़े के कार्यक्रम का प्रारम्भ होता है, उस समय मंच का दृश्य देखते ही बनता है। प्रत्येक भाँड़ अपनी विचित्र आवाजों से जब घोड़े के कारनामों का वर्णन शुरू करता है तथा आगे-पीछे होकर उन्हीं की सी आवाज निकालता है, उस समय का दृश्य देखते ही बनता है। इनका यह कार्य नाटक की पूर्व योजना हेतु दर्शकों के समय को मनोरंजन में बिताने के लिए होता है।

जब सभी भाँड़ों के घोड़े छूट जाते हैं तो अन्त में एक भाँड़ आकर कहता है – 'घोड़ा छूट गया, बछेड़ा छूट गया, अब बाकी क्या चीज है।' तो दूसरा कहता है— 'बाकी है शेरबाजी।' पहला बोलता है— 'सेर'। इस पर दूसरा कहता है— 'सेर नहीं, शेरबाजी देखो सुनाता हूँ।' 'दमदमा में दम रहे, कायम रहे इस्लाम की। फेंकहूँ लन्दन तलक, तलवार हिन्दुस्तान की।' अब पहला कहता है— 'घोड़ा भी छूट गया, शेर भी हो गया, अब बाई जान को बुलाओ।'।

इसके बाद बारी-बारी से सभी नर्तक आते हैं और अपना नृत्य दिखाकर चले जाते हैं। इसके बाद ये मुख्य नाटक शुरू करते हैं। इनके द्वारा प्रदर्शित नाटकों में 'कृष्णार्जुन

युद्ध', 'बभ्रु संग्राम', 'दयाराम', 'भक्त पूरनमल', 'काली नागिन', 'नकली मालिक', 'अमर सिंह', 'मोरध्वज', 'सुल्ताना डाकू' आदि मुख्य हैं।

नाटकों के बीच-बीच में ये जब अपनी नकलें या भँडैती करते हैं तो उसमें मखौल के साथ समाज के विभिन्न वर्गों पर तीखी चोटें तथा कभी-कभी अश्लील मजाक भी होते हैं। इन नकलों के द्वारा ये समाज की विद्रूपताओं को लक्ष्य कर गहरा व्यंग्य करते हैं। इनके द्वारा प्रदर्शित कुछ लोकप्रिय नकलों के नाम हैं— 'चमेलिया लौंडी, भटियारिन, मैं महाराजा से मिलने गई, मैं ससुराल गई, मैं जज की कुर्सी पर बैठी। मैं ससुराल गई में ऐ भाँड़ बहू के स्वांग में आता है। वह बहू नाक सिकोड़ती है, ओठ बिराती है और हर बात पर एड़ी पटककर तिरस्कार करती है। जब दर्शक परेशान हो उठते हैं कि आखिर वह चाहती क्या है तो वह कुछ ऐसी हास्यास्पद माँग करती है कि भाइया जूता मारना शुरू कर देता है और दर्शक हँस-हँसकर लोट-पोट हो जाते हैं। एक बार किसी भाँड़ को किसी दरोगा ने जेल भेजवा दिया था, यद्यपि भाँड़ का कोई कसूर नहीं था। किसी संभ्रान्त व्यक्ति की बारात में उस भाँड़ को प्रदर्शन दिखाने का निमंत्रण मिला। उस बारात में दरोगा सहित जिले के कतिपय वरिष्ठ अधिकारी भी निमंत्रित थे। भाँड़ ने अपने प्रदर्शन के दौरान न्यायालय की नकल उतारना शुरू किया। एक भाँड़ जज की कुर्सी पर बैठा और एक पेशकार की जगह पर और एक पुकार करने वाला अर्दली बना। अर्दली एक-एक कर अपराधियों को बुलाकर न्यायाधीश के सामने पेश करना शुरू किया। न्यायाधीश प्रत्येक अपराधी का अपराध पूछता है और उसी के अनुसार किसी को जिलाधीश, किसी को पुलिस कप्तान, किसी को कोतवाल बना देता है। अन्त में अर्दली ने एक ऐसे अपराधी को पेश किया, जिसके अपराध को बता पाने में पेशकार अपनी असमर्थता व्यक्त करने लगा। जज द्वारा बार-बार पूछने पर भी वह हाथ जोड़ने लगा कि 'सरकार इसका अपराध कहते हुए शर्म आ रही है, किस प्रकार से कहूँ।' दर्शक हैरान हैं कि आखिर उसका कौन सा अपराध है कि वह कह नहीं पा रहा है। अन्त में पेशकार बताता है कि हुजूर इसने अपनी माँ के साथ गलत काम किया है। इस बात को सुनते ही जज आग-बबूला हो जाता है और चिल्लाकर कहता है कि इसे दारोगा बना दो। दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं और उस दारोगा पर जो भाँड़ को जेल भेजवाया था, घड़ों पानी पड़ जाता है।

भाँड़ किसी को छोड़ते नहीं है, अगर दर्शकों में से ही कोई उसे छेड़ दे तो एक ही चुटकी में वह उसको बे-पानी कर देते हैं। इन चुटकियों पर दर्शक हँस-हँसकर दुहरे हो जाते हैं। भाँड़ लोग जब किसी बड़े आदमी की बारात में अपना प्रदर्शन शुरू करते हैं तो गुस्ताखी के लिए पहले ही क्षमा माँग लेते हैं। इस खुली छूट के बाद वे उस

व्यक्ति को भी नहीं छोड़ते जिसके निमंत्रण पर प्रदर्शन दिखाने के लिए पहुँचे रहते हैं। सैकड़ों कहावतें और लतीफे उनकी जबान पर उपस्थित रहते हैं। ये बोझिल से बोझिल वातावरण को भी अपने प्रदर्शन की फुलझड़ियों से हल्का कर देते हैं। ये लोग समाज की किसी भी समस्या को अपने संवाद का विषय बना लेते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये तत्काल बड़े सहज ढंग से पद्यात्मक तुक जोड़ लेते हैं। इनके संवादों में परस्पर टकराने वाली शब्दों की लड़ियों का एक रोचक लय प्रस्तुत हो जाता है।

यद्यपि, भाँड़ों के द्वारा प्रदर्शित नाटकों की भाषा नौटंकी की भाषा के समान उर्दू-फारसी मिश्रित खड़ी बोली है, किन्तु नाटक के प्रारम्भ में जो वे स्वांग और नकलें पेश करते हैं तथा बीच-बीच में जो छोटे-छोटे हास्यपूर्ण प्रहसन दिखाते हैं या स्वांग उतारते हैं, उनकी भाषा स्थानीय भोजपुरी होती है। इनके द्वारा प्रदर्शित होने वाले छोटे प्रहसनों में 'चार सौ बीस', आठ सौ चालीस, बी० डी० ओ० साहब, रंडीबजवा आदि मुख्य हैं, जिनकी भाषा ठेठ भोजपुरी है। गाँवों में निवास करने वाले भाँड़ तो ठेठ बोली का ही प्रयोग करते हैं -

'केहि पे देऊँ ढेवारदार कजरा।
सास तोरी अँधरी, ससुर तोर लँगड़ा।
तूँ अलबेली, भतार तोर हिजड़ा।
केहि पे देऊँ ढेवारदार कजरा।'

जमींदारी उन्मूलन के पूर्व भोजपुरी क्षेत्र के शाहाबाद, सारन, चम्पारन, बनारस, गोरखपुर में इन भाँड़ों को जमींदारों और राजाओं का आश्रय प्राप्त था, क्योंकि ये राजदरबार में जाकर अपना प्रदर्शन दिखाकर मनोरंजन करते थे, किन्तु अब इनका एकमात्र आश्रय भोजपुरी क्षेत्र की जनता ही रह गई है। भोजपुरी क्षेत्र में बनारस भाँड़ों की नाच के लिए विख्यात रहा है। एक समय था जब बनारस में मुकुन्दी भाँड़ अपनी प्रसिद्धि के चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए थे। आज बनारस में बहुत से भाँड़ मण्डली वाले अपने को मुकुन्दी भाँड़ का शिष्य कहलाने में अपना गौरव समझते हैं। मुकुन्दी भाँड़ के अलावा बनारस में मन्नू भाँड़ की भी बड़ी ख्याति रही है। आजकल बनारस के भाँड़ों में मुहम्मदा हुसेन, सुमेर सिंह तथा भाँड़ मेवा का नाम मुख्य रूप से है।

आज भाँड़ों की कला का प्राचीन रूप सामने नहीं है। धीरे-धीरे इसके प्रति इन लोगों का उत्साह गिरता जा रहा है। यही कारण है कि पेशेवर भाँड़ भी अब अपनी कला से हटकर रोजी-रोटी के लिए दूसरा व्यवसाय ढूँढ रहे हैं।

रामलीला मण्डली

सामुदायिक स्तर पर भोजपुरी क्षेत्र में प्रदर्शित होने वाले रामलीला का मंचन करने वाली सैकड़ों व्यावसायिक मण्डलियाँ भी हैं। ये मण्डलियाँ बड़ी सुव्यवस्थित हैं और इनकी परम्परा भी काफी पुरानी है। आश्विन मास में ये भोजपुरी क्षेत्र के विभिन्न नगरों, कस्बों, गाँवों में रामलीला दिखाती हैं, साथ ही ये मण्डलियाँ धार्मिक-पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटकों का अभिनय भी करती हैं। इन नाटकों में भक्त प्रह्लाद, श्रवण कुमार, वीर अभिमन्यु, कृष्ण लीला आदि प्रमुख हैं। पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटकों के अलावा अब ये मण्डलियाँ नागिन, खानदान, धूल का फूल, गंगा-जमुना आदि फिल्मों पर आधारित नाटकों का भी प्रदर्शन दिखाती हैं। यों, इस प्रकार की रामलीला मण्डलियाँ भी पूर्वी उत्तर-प्रदेश के लगभग सभी जिलों में सक्रिय तो हैं ही, किन्तु बिहार के मिथिला क्षेत्र में आने वाले जिलों यथा मधुबनी, सहरसा, वैशाली, मुजफ्फरपुर, दरभंगा आदि में अधिक है। इसके अलावा मोतीहारी, मिथिला, छपरा तथा आरा में भी ऐसी मण्डलियाँ कार्यरत हैं जो आश्विन मास में घूम-घूमकर रामलीला करती हैं तथा वर्ष के अन्य महीनों में अन्य नाटक दिखाती हैं।

व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा प्रदर्शित होने वाला रामलीला का मंचन भी सामुदायिक मण्डलियों के ही समान कई दिनों में पूरा होता है। अन्तर केवल यह है कि जहाँ सामुदायिक स्तर पर होने वाली रामलीला में घटनायें भिन्न-भिन्न जगहों पर प्रदर्शित की जाती हैं, यथा गंगा पार के लिए नाव से नदी को पार करना, पंचवटी के लिए किसी वाटिका में दृश्य को दिखाना आदि, वहाँ व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा प्रदर्शित रामलीला लगभग आद्यन्त एक ही मंच पर प्रदर्शित होती है। प्रदर्शन के लिए रामकथा के मुख्य-मुख्य घटनाक्रमों को तैयार कर लिया जाता है, जिन्हें एक-एक दिन प्रदर्शित किया जाता है। इन मण्डलियों द्वारा रामकथा के जिन घटनाक्रमों को अभिनय के लिए नियत किया जाता है, वे इस प्रकार हैं –

नारद मोह, रावण जन्म, रामजन्म, मुनि आगमन, अहिल्या उद्धार, गंगा अवतरण, फुलवारी तथा नगर दर्शन, धनुश यज्ञ, राम-विवाह, रामकलेवा, बनवास, दशरथ मरण, भरत मनावन, खरदूषण वध तथा शूर्पणखा का नाक-कान कटैया, सीता-हरण, सेवरी उद्धार, राम-सुग्रीव मिलन, बालिवध, लंकादहन, (विभीषण शरणागत), रामेश्वर स्थापना, अंगद-रावण संवाद, लक्ष्मण शक्ति, कुम्भकरण वध, मेघनाद वध, अहिरावण वध, नारांतक वध, राम-रावण युद्ध तथा रावण वध, भरत-मिलाप और राजगद्दी।

इन लीलाओं में प्रदर्शन के प्रारम्भ में राम-लक्ष्मण की झाँकी प्रस्तुत की जाती है।

इस अवसर पर मण्डली में कार्य करने वाले सभी कलाकार मंच पर उपस्थित होते हैं। पुरुष कलाकार एक तरफ तथा नारी का अभिनय करने वाले नर्तक दूसरी तरफ खड़े हो जाते हैं। राम और लक्ष्मण की आरती में कुछ प्राप्त करने की इच्छा से भेजी जाती है। आरती के बाद लीला का कार्यक्रम शुरू होता है। अधिकांश रामलीला पार्टियों में मानस का पाठ तबले और हारमोनियम के साज पर व्यास जी ही करते हैं और पात्र अभिनय की शैली में उनका अर्थ करते जाते हैं। कभी-कभी संवादों में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए स्वयं पात्र भी सस्वर मानस की चौपाइयों का पाठ करने लगते हैं। चूँकि ये व्यावसायिक स्तर पर बराबर प्रदर्शन दिखाते हैं, इसलिए उन्हें अधिकांश चौपाइयाँ कण्ठस्थ होती हैं। इतना ही नहीं, तुलसीकृत रामचरित मानस की चौपाइयों के साथ कभी-कभी इनके संवादों में प्राचीन कवित्त, सवैया आदि छन्द, राधेश्याम जी के रामायण के उद्धरण तथा उसके साथ में उर्दू की शेरों-शायरी भी रामलीला मंच पर सुनाई देती है। इन मण्डलियों द्वारा प्रदर्शित रामलीला में स्थिति केवल यहीं तक नहीं रहती है, अपितु कभी-कभी इस रामलीला में सीता जी भी नौटंकी की लोकप्रिय धुन बहरेतबील में रावण को यह डाँट लगाती हुई देखी जाती हैं –

अरे रावण तूँ धमकी दिखाता किसे, मुझे मरने का खौफो खतर ही नहीं।

व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा अभिनीत रामलीला प्रदर्शन में मुख्य रूप से खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग होता है, किन्तु जो मण्डलियाँ मिथिला क्षेत्र की रहती हैं, उनकी बोली में मैथिली का भी पुट रहता है। वैसे तो लीला के अधिकांश संवाद और गीत खड़ी बोली में ही होते हैं, किन्तु बीच-बीच में बहुत से प्रसंग जो इन पार्टियों द्वारा बना लिये जाते हैं, स्थानीय से सम्बन्धित होते हैं और कुछ केवल मनोरंजन के लिए हास्यपूर्ण प्रसंग उपस्थित किये जाते हैं –

रामजन्म के प्रसंग में महाराजा दशरथ के दरबार में बधाई गाते हुए भाट-भाटिन निकलते हैं। उनका बधाई गीत स्थानीय बोली भोजपुरी में होता है –

बबुआ जीअ हो सोलना, लाल जी जीअ हो सोलना।

राजा दशरथ दीना मकुना हाथी अटारी अमारी लदाख।

रानी कौशिल्या दीनी कर के कांगना, हीरा जड़ी सो लाल, हो सोलना बबुआ...

दीह दीह बाबू बड़का बटुलवा, दीह दीह राज बड़का बयलवा।

अँगना में चमकेला फूल की धरियावा, हो सोलना बबुआ...

बाबू बैठे भइया बैठे राजा बैठे मोट, भाँड़ नाच के चला गया दीने नहीं नोट।

बबुआ जीअ हो सोलना।

रामजन्म के अवसर पर सोहर भी होता है –

कहवाँ से आवेली पिअरिया, पिअरिया मोती झालर लागल हो ललना।
कहवाँ से आवेला सिन्होरवा, सिन्होरवा भरि सेनुर हो।
नैहर से आवेली पिअरिया, पिअरिया मोती झालर लागल हो।
ललना ससुरा से आवेला सिन्होरवा, सिन्होरवा भरि सेनुर हो।
कहवाँ में रखबो पिअरिया, पिअरिया मोती झालर लागल हो।
ललना कहवाँ में रखबो सिन्होरवा, सिन्होरवा भरि सेनुर हो।
खूँटिआ पर रखबो पिअरिया, पिअरिया मोती झालर लागल हो।
ललना मुनियन में रखबो सिन्होरवा, सिन्होरवा भरि सेनुर हो।
सूरदास सोहर गावेलें, गाई के सुनावेलें हो ललना।
जुग-जुग जीवें तेरो लाल, महलिया उठे सोहर हो।

इसी प्रकार गंगा अवतरण के प्रसंग में पंडा लोग रामजी से जब दक्षिणा माँगते हैं, उस समय पंडा और पंडाइन के बीच में दक्षिणा प्राप्त करने के लिए तथा वहाँ अपना अधिकार दिखाने के लिए जो नोकझोंक होती है, वह भोजपुरी में ही प्रदर्शित की जाती है। पंडाइन-पंडा लोगों के दावे को काटती हुई कहती है –

मोर पिया रहलें इहाँ के पंडा।
सावन महीना में अइले पलेगवा,
मोर पिय मर गइले में भइली रंडा।
इहवाँ के मालिक रहलें पियवा,
यही कारन रखली दू-दू मुसटुंडा। मोर पिया...

इसी प्रकार अन्य पंडे भी आकर अपने अधिकार की बात गीतात्मक ढंग से भोजपुरी में ही करते हैं। राम विवाह का तो पूरा प्रसंग ही भोजपुरी में ही प्रस्तुत किया जाता है। राम का विवाह मंडप में आने पर भोजपुरी लोकगीतों में परछन होता है। विवाह कराने वाले पंडित जी गाली सुनते हैं –

जइसे बँसवा के कइन, वइसे पंडित के बहिन।
जइसे उँखिया के भूआ, वइसे पंडित के बूआ।

सिन्दूरदान के अवसर पर गीता होता है—

सेन्दूर दरू सेन्दूर दरू माई के बहिनियाँ के और पितिअइनियाँ के।

सेन्दूर दरही न जाने रे छिनरी के पूत मारो लवंग से।
माई तोर कारो बहिनियाँ छिनारी, बाप तोर हवें हरजोत्ता।
गारी देवही न जानों रे छिनारी के पूता मारों लवंग से।।

विवाहोपरान्त राम और सीता का सेहरा गीत होता है –

सिया जी हई बहिनी हमार हो, राम लगिहें पहुनवाँ।
मिथिला के नाते सिया जी बहिनियाँ, सिया जी के नाते रामजी पहुनवाँ।
अरे जोड़ी मिलल अनमोल हो राम लगिहें पहुनवाँ।

इसी प्रकार रामलीला के अन्य घटना प्रसंगों के प्रदर्शन में स्थानीय बोली भोजपुरी का प्रयोग होता ही रहता है, जिससे कि व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा प्रदर्शित रामलीला का यह प्रस्तुतीकरण आँचलिक अधिक हो गया है।

इन मण्डलियों द्वारा प्रदर्शित रामलीला उस समय अधिक हास्यास्पद लगने लगती है, जब रामलीला में फिल्मी गीत तथा उनकी पेरोडियाँ सुनाई जाने लगती हैं, जब रावण की सभा में काली पोशाक पर हैट लगाये अंगद जी दूत का अभिनय प्रस्तुत करते हैं और जब रावण का दूत लंका के द्वार पर अंगद से 'हू आर यू' या 'हारू डू यू डू' पूछता है। जो भी हो रामलीला प्रदर्शन की इन व्यावसायिक मण्डलियों ने भोजपुरी जनमानस में अच्छा स्थान बना लिया है और लोग खुली जगहों में रात के तीन-चार घंटे बैठकर रामलीला का आस्वादन बड़े अनुराग से करते हैं।

सन्दर्भ

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (तृतीय संस्करण) : डॉ० श्री कृष्ण लाल, पृ०-195।
2. रंगयोग (जुलाई-सितम्बर, 1975), बिहार की बिदेसिया लोकनाट्य परम्परा, श्री जवाहिर सिंह, पृ०-52।
3. उपरिवत, पृ०-61।
4. आजकल (अक्टूबर, 1971), जन्मजात कलाकार भिखारी ठाकुर : श्री चन्द्रशेखर मिश्र, पृ०-23।
5. बिहार समाचार (जनसम्पर्क विभाग, पटना, बिहार), जनकवि स्व० भिखारी ठाकुर और उसका बिदेसिया रंगमंच, लेखक- श्री रामरिञ्जन 'रसूलपुरी' पृ०-65।

6. भिखारी – लेखक– महेश्वराचार्य, पृ0-69 (प्रथम संस्करण), (लोक कलाकारभिखारी ठाकुर, कुतुबपुर, सारन)।
7. परम्पराशील नाट्य : श्री जगदीश चन्द्र माथुर, पृ-111।
8. लोकरंग (विदेसिया) : डॉ0 ऊषा वर्मा, पृ0-291।
9. भोजपुरी साहित्य, जनवरी, 1963, पृ0-20।
10. भिखारी : श्री महेश्वराचार्य, पृ0-79।
11. सांगीत-एक लोकनाट्य परम्परा : श्री रामनारायण अग्रवाल, पृ0-59।
12. संस्कृत नाटक (भाषान्तरकार : डॉ0 उदयभान सिंह) : डॉ0 कीथ, पृ0-275।
13. दस रूपक, तृतीय अध्याय, पद – 49, 50, 51, पृ0-173।
14. आइने अकबरी (यदुनाथ सरकार), वाल्यूम-3, पृ0-272।
15. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : डॉ0 सोमनाथ गुप्त, पृ0-16।
16. सांगीत-एक लोकनाट्य परम्परा : श्री रामनारायण अग्रवाल, पृ0-44।
17. लखनऊ का उर्दू स्टेज और ड्रामा : डॉ0 महमूद हसन रिजवी, पृ0-49।